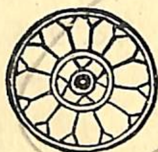


मातृवाणी

श्रीमाताजी

मातृवाणी
(Words of the Mother)

श्रीमाताजी





श्रीअरविन्द-ग्रन्थमाला
पांडीचेरी

अनुवादक—
श्रीमदनगोपाल गाडोदिया

संपादक—
आचार्य श्रीअभयदेव विद्यालंकार

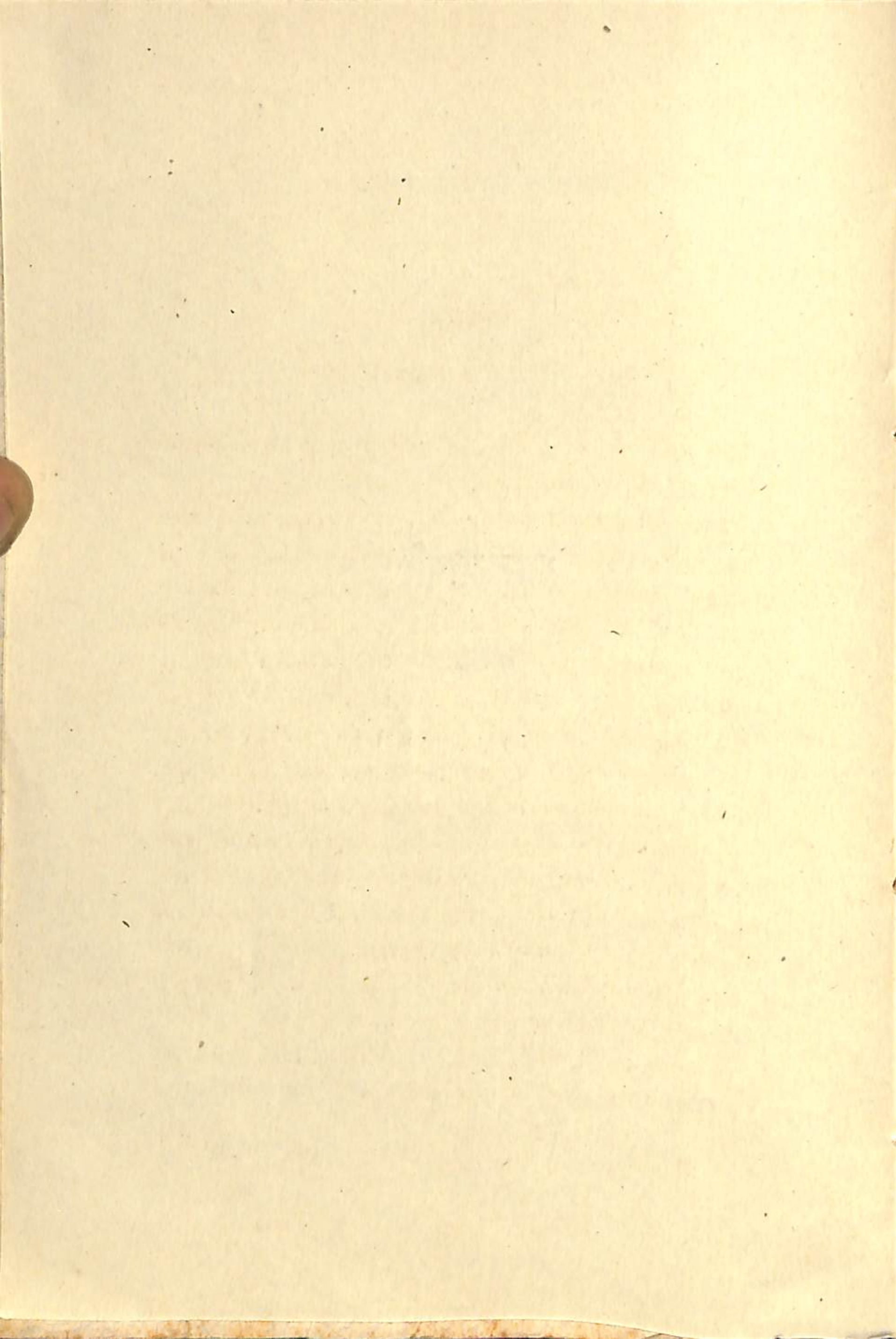
प्रकाशक—
श्रीअरविन्द-ग्रंथमाला
पांडीचेरी

२४ नवम्बर १९४७

द्वितीय संस्करण
१५००

मूल्य
२।) सवा दो रुपया

मातृवाणी



प्राक्कथन

(१९१२ में लिखित)

जिस सार्वत्रिक लक्ष्यको हमें प्राप्त करना है वह है एक प्रगतिशील विश्वव्यापी सामञ्जस्यका आविर्भाव।

जहांतक इस भूलोकका संबंध है, इस लक्ष्यको प्राप्त करनेका साधन है सब किसीमें उसके अन्दर रहनेवाले भगवान्‌की, जो सबके अन्दर एक ही सद्वस्तु हैं, जागृतिद्वारा और सब किसीका अपने अन्दर रहनेवाले इन भगवान्‌की यहां अभिव्यक्ति करनेके द्वारा–मानव एकताकी सिद्धि।

दूसरे शब्दोंमें,–ईश्वरके साम्राज्यकी, जो हम सभीके अन्दर है, यहां स्थापना करनेके द्वारा एकताकी सृष्टि करना।

तो, इसके लिये जिस अत्यन्त उपयोगी कामको करना है वह है:–

(१) व्यक्तिगत रूपसे, प्रत्येक व्यक्तिका उसके अन्दर जो भगवान्‌की अवस्थिति है उससे सचेतन होना और उसके साथ अपना तादात्म्य करना।

(२) सत्ताकी उन अवस्थाओंको व्यक्तिभावापन्न करना जो अभीतक मनुष्यके अन्दर कभी भी जाग्रत नहीं हुई हैं और इस कार्यके द्वारा पृथ्वीका विश्व-शक्तिके एक या अधिक अन्य स्रोतोंके साथ, जो अभीतक उसके लिये बंद पड़े हैं, संबंध स्थापित करना।

(३) संसारको फिरसे उस सनातन वाणीको एक नये रूपमें, जो उसकी वर्तमान मनोवृत्तिके अनुकूल हो, सुनाना।

यह वाणी समस्त मानव-ज्ञानका समन्वयरूप होगी।

(४) सामूहिक रूपसे, किसी अनुकूल स्थानपर एक आदर्श समाज-

की स्थापना करना जिससे यह नवीन जाति, ईश्वरके पुत्रोंकी जाति फल-फूल सके।

* *

दो प्रक्रियाओंके द्वारा पार्थिव भूमिका रूपांतरित और सामंजस्य-पूर्ण हो सकती है, और ये दोनों प्रक्रियाएं यद्यपि परस्पर-विरोधिनी दिखायी देती हैं, लेकिन इन्हें संयुक्त हो जाना होगा,–ऐसा हो जाना होगा कि ये एक दूसरीपर कार्य करें और एक दूसरीके लिये पूरक हों:–

(१) व्यक्तिगत रूपांतर, अर्थात् एक आंतरिक विकास जिसके द्वारा भागवत अवस्थितिके साथ एकता प्राप्त हो जाय।

(२) सामाजिक रूपांतर, अर्थात् एक ऐसी परिस्थितिको स्थापित कर देना जो व्यक्तिके प्रस्फुटन और वृद्धिके लिये अनुकूल हो।

चूंकि परिस्थितिका व्यक्तिपर असर होता है और दूसरी ओर परि-स्थितिका मूल्य व्यक्तिके मूल्यपर निर्भर करता है इसलिये व्यक्तिगत रूपांतर और सामाजिक रूपांतरका कार्य साथ-साथ चलना चाहिये। परन्तु यह काम श्रमविभागके द्वारा ही हो सकता है और इसके लिये एक संघ बनानेकी आवश्यकता होगी जो कि, यदि संभव हो तो, देवशासन-की तरह कोटि-क्रमबद्ध हो।

संघके सदस्योंका कार्य त्रिविध होगा:–

(१) जिस आदर्शको प्राप्त करना है उसे अपने-आपमें सिद्ध करना। उस अचिंत्यकी उसके समस्त धर्मों, गुणों और विशेषणोंको लिये हुए जो प्रथम अभिव्यक्ति होगी उसका एक सर्वांगसंपूर्ण पार्थिव प्रतिनिधि बनना।

(२) इस आदर्शका शब्दोंद्वारा, और सबसे अधिक अपने सजीव उदाहरणके द्वारा उपदेश देना, जिससे कि वे लोग जो इसको यथाक्रम अपने-आपमें सिद्ध करनेके लिय, तथा साथ-साथ इस मुक्तिका संदेश-वाहक बननेके लिये भी, तैयार हैं उन सबको खोज निकाला जाय।

(३) एक नमूनेका समाज बनाना या जो पहलेसे मौजूद हैं उनका पुनस्संगठन करना।

* *

प्रत्येक व्यक्तिको भी निम्नलिखित द्विविध काम साथ-साथ करना होगा, जिसका एक पार्श्व दूसरे पार्श्वकी सहायता करेगा तथा एक दूसरे-को पूर्ण बनायेगा:–

(१) आंतरिक विकास करना, अर्थात् भागवत प्रकाशके साथ प्रगतिशील एकता प्राप्त करते जाना,–यही एकमात्र अवस्था है जिसके द्वारा मनुष्य सदा विश्व-जीवनकी महान् धाराके साथ एक स्वरमें मिला हुआ रह सकता है।

(२) कोई बाह्य कर्म करना, जिसे हरएकको अपनी क्षमताओं और व्यक्तिगत तरजीहोंके अनुसार चुन लेना है। यह जो विश्व कनसर्ट बज रहा है इसमें उसका जो स्थान है, जिसकी केवल वही पूर्त्ति कर सकता है, उसको उसे ढूंढ़ निकालना होगा और फिर अपने-आपको उस-पर न्योछावर कर देना होगा, और इस बातको भूल नहीं जाना होगा कि इस पार्थिव भूमिकापर यह जो सर्वसम्मिलित गत बज रही है उसके संगठनमें वह केवल एक तोड़ा ही बजाता है और फिर भी जिस तोड़ेको वह बजाता है वह इस गतकी जो समग्र समस्वरता है उसके लिये अनिवार्य है और वह तोड़ा जितना शुद्ध बजेगा उसीपर उसका मूल्य निर्भर करेगा।

पहला भाग

१

हमारे अंदरका वह सब कुछ जो हमारे अंतरमें बसनेवाली दिव्यताके प्रति संपूर्ण रूपसे समर्पित नहीं हुआ है, वह पृथक्-पृथक् रूपसे वस्तुओंकी उस समूची समग्रताके अधिकारमें है जो हमको घेरे रहती है और जो, जिसको हम 'अपना-आप' कहनेकी भूल करते हैं उसपर क्रिया करती है; यह क्रिया चाहे हमारी इंद्रियोंके माध्यमद्वारा होती हो, चाहे सुझावद्वारा सीधे मनपर ही।

सचेतन जीव बननेके लिये, अपने स्वरूपमें आ जानेके लिये एक ही मार्ग है और वह है सबके अंदर जो भागवत स्वरूप है उसके साथ अपनेको एक कर लेना। और इसके लिये हमें एकाग्रताकी सहायताके द्वारा अपने-आपको बाह्य स्पर्शोंसे पृथक् कर लेना होगा।

जब तुम अंतर में निवास करनेवाली इस दिव्यताके साथ एक हो तब तुम सभी चीजोंके साथ उनकी गहराईमें एक हो। और इसी दिव्यतामेंसे तथा इसीके द्वारा उनके साथ अपना संबंध तुम्हें स्थापित करना चाहिये। तब तुम, बिना किसी आकर्षण या हटावके, जो कुछ इस दिव्यताके समीप है उसके समीप हो और जो कुछ इससे दूर है उससे दूर हो।

दूसरे लोगोंके बीचमें रहते हुए तुम्हें सदा भगवान्का उदाहरण बनकर रहना चाहिये, तुम्हारा वहां होना उनके लिये एक अवसर बन जाना चाहिये, जिससे कि वे लोग भी दिव्य जीवनको समझ सकें और इस जीवनके मार्गमें प्रवेश कर सकें। तुम्हें बस इतना ही करना चाहिये, इससे अधिक कुछ भी नहीं। तुम्हारे अंदर

यह भी इच्छा न होनी चाहिये कि वे प्रगति करें, कारण यह भी एक तरहका स्वेच्छाचार ही होगा।

जबतक तुम अंदरमें रहनेवाली दिव्यताके साथ सुनिश्चित रूपसे एक नहीं हो जाते तबतक बाहरी दुनियाके साथ तुम्हारे संबंधोंके विषयमें सबसे अच्छा रास्ता यही है कि तुम उन लोगोंकी सर्व-सम्मत सलाहके अनुसार चलो जिन्होंने इस एकताका स्वयं अनुभव किया हुआ है।

सतत भूतदयाकी अवस्थामें होना, इस भावको अपने जीवनका नियम बनाते हुए, किसी भी बातसे उद्विग्न नहीं होना और न दूसरोंके उद्वेगका कारण बनना तथा, जहांतक संभव हो, किसीको भी दुःख नहीं पहुंचाना।

२

हरएक सजीव प्राणीके लिये यह एक अमूल्य संपद है, कि उसने अपने-आपको जानना और अपने-आपपर प्रभुत्व प्राप्त करना सीख लिया है। अपने-आपको जाननेका अर्थ है अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंके प्रेरकभावोंको जानना, यह जानना कि अपने अंदर जो कुछ भी चेष्टा होती है वह कैसे और क्यों होती है। अपने-आपपर प्रभुत्व प्राप्त करनेका अर्थ है कि जिस किसीने जो कुछ करनेका निश्चय किया है, वह उसीको करे, केवल उसीको करे और कुछ भी नहीं और आवेगों, कामनाओं या तरंगोंकी कोई बात न सुने, न उनका अनुसरण करे।

किसी बालकको नैतिक नियम सिखाना अवश्य ही कोई आदर्श बात नहीं है, किंतु इसके बिना काम चलना भी बहुत ही कठिन है। हां, जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाय वैसे-वैसे उसे इस बातकी शिक्षा दी जा सकती है कि समस्त नैतिक और सामाजिक नियम कितने आपेक्षिक हैं, जिससे कि वह अपने ही अन्दर किसी उच्चतर और सत्यतर नियम या धर्मको खोजकर प्राप्त कर सके। परन्तु इस विषयमें बहुत ही सावधानीके साथ आगे बढ़ना चाहिये और उस सच्चे नियम या धर्मको खोज निकालना कितना कठिन है इस बातको उसे अच्छी तरह और पूरा जोर देकर बता देना चाहिये। जो लोग मानव-नियमोंका त्याग करते और अपनी स्वतंत्रताकी तथा 'अपने ही ढंगका जीवन' बितानेके निश्चयकी घोषणा करते हैं उनमेंसे अधिकांश व्यक्ति यह कार्य अत्यंत साधारण प्राणमय प्रवृत्तियोंके अधीन होकर ही करते हैं और इनको, यदि अपनी आंखोंसे नहीं तों कम-से-कम दुनियाकी आंखोंसे, छिपाने और

इनका औचित्य साबित करनेकी कोशिश करते हैं। ये लोग नैतिकताको केवल इसीलिये ठुकराते हैं कि वह उनकी पशुवृत्तिकी तृप्तिमें बाधक बनती है।

किसीको भी नैतिक और सामाजिक नियमोंके विषयमें फैसला करने बैठनेका कोई अधिकार नहीं है, जबतक कि वह इनसे ऊपर उठकर किसी महत्तर नियममें प्रतिष्ठित न हो गया हो; इन नियमोंको तबतक नहीं छोड़ा जा सकता जबतक कि इनके स्थानपर किसी श्रेष्ठतर नियमको स्थापित नहीं कर दिया गया हो, और ऐसा करना कुछ सहज नहीं है।

जो हो, किसी बालकको दी जानेवाली सबसे बढ़िया भेंट तो यही हो सकती है कि उसे अपने-आपको जानना और अपने-आपपर प्रभुत्व प्राप्त करना सिखा दिया जाय।

३

न्याय है विश्व-प्रकृतिकी गतियोंका कठोर तर्कसंगत नियंतृत्व।

रोग हैं स्थूल शरीरपर प्रयुक्त यही नियंतृत्व। चिकित्सा-शास्त्रियोंकी वुद्धि इस अपरिहार्य न्यायको अपना आधार वनाकर ऐसी अवस्थाओंको उत्पन्न करनेकी चेष्टा करती है जो सिद्धांततः अच्छे स्वास्थ्यको देने-वाली हों।

इसी प्रकार नैतिक चेतना समाज-शरीरमें कार्य करती है और तपस्या आध्यात्मिक क्षेत्रमें।

केवल भगवत्कृपामें ही यह शक्ति है कि वह इस विश्वव्यापी न्याय-के कार्यमें हस्तक्षेप कर सके और उसके क्रमको बदल सके। इस भगवत्कृपाको पृथ्वीपर अभिव्यक्त करना, यही है अवतारका महान् कार्य। अवतारका शिष्य होना इस भगवत्कृपाका एक उपकरण वनना है। माता—तादात्म्यद्वारा इस भगवत्कृपाको बांटनेवाली देवी हैं, जो इस विश्वव्यापी न्यायकी समग्र यान्त्रिकताका—तादात्म्यद्वारा—पूर्ण ज्ञान रखती हैं।

और उनको बीचमें रखकर की हुई भगवान्‌की ओर सच्ची और विश्वासपूर्ण अभीप्साकी प्रत्येक गति, प्रत्युत्तरमें इस कृपाको हस्तक्षेप करनेके लिये यहां नीचे बुला लाती है।

ओ प्रभु! ऐसा कौन है जो तेरे सामने खड़ा होकर पूरी सच्चाईके साथ यह कह सके कि "मैंने कभी कोई गलती नहीं की?" प्रति दिन न मालूम कितनी बार, हम तेरे कार्यके विरुद्ध आचरण कर अपराध करते हैं, और सदा तेरी कृपा आकर उन अपराधोंको मिटा देती है!

तेरी कृपाके लगातार हस्तक्षेपके बिना ऐसा कौन था जो इस विश्व-व्यापी न्यायके छुरेकी निर्दय धारके नीचे अक्सर न आया होता ?

यहांका प्रत्येक व्यक्ति एक-एक ऐसी असंभवताका प्रतिनिधि है जिसका समाधान करना है, पर यदि तेरी दिव्य कृपाकी ओर देखें तो उस कृपासे सब कुछ संभव है, तेरा कार्य होगा इन सब असंभवताओंको दिव्य सिद्धियोंमें रूपान्तरित करके जहां समग्र रूपमें वहां प्रत्येक ब्योरेमें भी, परिपूर्ण कर देना।

४

यह जगत् एक गड़बड़झाला है, जिसमें अंधकार और प्रकाश, मिथ्या और सत्य, मृत्यु और जीवन, कुरूपता और सौन्दर्य, घृणा और प्रेम इतने पास-पास लिपट गये हैं कि इनको अलग-अलग समझना प्रायः असंभव है, इससे भी अधिक असंभव है इनको जुदा कर देना और इस संश्लेषका–जो एक निर्दय संघर्षकी विभीषिकाको लिये हुए है–अंत कर देना। यह संघर्ष और भी भीषण इसलिये हो जाता है कि यह परदेकी आड़में छिपा हुआ है, विशेषतः मानव-चेतनामें जहां यह संग्राम ज्ञानके लिये, शक्तिके लिये, विजयके लिये होनेवाली तीव्र मनोवेदनाके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। यह एक युद्ध है जो अज्ञानभरा और दुःखदायी है, यह और भी अधिक भीषण हो जाता है क्योंकि इसका ओर-छोर ही कहीं नजर नहीं आता, किन्तु इसका खातमा हो सकता है, इन्द्रियों, मात्रा-स्पर्शों और भावनाओंके, अर्थात् मनके क्षेत्रसे परेकी भूमिकामें–भागवत चेतनामें पहुंचकर।

५

पुनर्जन्म माता-पिता, परिस्थिति और अवस्थाओंसे बने हुए बाह्य पुरुषका, अर्थात् मन, प्राण और शरीरका नहीं होता। केवल हृत्पुरुष ही एक देहसे दूसरी देहमें जाता रहता है। तो, तर्कसिद्ध यही है कि न तो मनोमय और न प्राणमय पुरुष पूर्वजन्मोंको स्मरण रख सकता है अथवा इस या उस व्यक्तिके जीवनके शील या स्वभावमें अपनेको पहचान सकता है। पूर्वजन्मोंकी स्मृति केवल हृत्पुरुषको ही हो सकती है और जब हम अपने हृत्पुरुषको सचेतन रूपसे जान लेंगे, केवल तभी हम साथ-ही-साथ अपने पूर्वजीवनोंके विषयमें भी ठीक-ठीक बातें जान सकेंगे।

परन्तु हम भूतकालमें क्या थे इस ओर अपने ध्यानको रखनेकी अपेक्षा हमारे लिये कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण यह होगा कि हम अपने ध्यानको जो कुछ हम भविष्यमें होना चाहते हैं, उस ओर लगायें।

६

जिसने अपने-आपको भगवान्‌के प्रति सौंप दिया है, उसके लिये अब इसके अतिरिक्त और कोई कर्तव्य नहीं रह जाता कि वह अपने इस समर्पणको अधिकाधिक सर्वांगसंपूर्ण बनाता जाय। इस संसारने और इसमें रहनेवाले लोगोंने सदा मानव–सामाजिक और पारिवारिक–कर्त्तव्यको उस कर्त्तव्यकी अपेक्षा पहला स्थान देना चाहा है जो कर्त्तव्य उनका भगवान्‌के प्रति है और जिस कर्त्तव्यको वे 'अहंभाव' या 'स्वार्थ'-का नाम देकर कलंकित करते हैं। और सचमुच उनका फैसला इसके सिवाय और कुछ हो भी क्या सकता था, उनका, जिन्हें भगवान्‌की वास्तविकताका कोई भी अनुभव नहीं है? परंतु भगवान्‌की दृष्टिमें उनकी सम्मतिका कोई मूल्य नहीं, उनकी इच्छामें कोई बल नहीं। ये केवल अज्ञानकी गतियां हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। इन लोगोंको प्रतीति करा देनेका तुम्हें प्रयास नहीं करना चाहिये; और सबसे बढ़कर यह है कि इनकी बातोंसे तुम्हें प्रभावान्वित या विचलित नहीं होना चाहिये। तुम्हें अपने-आपको अपने समर्पणके धवल दुर्गके भीतर सावधानीके साथ बंद रखना चाहिये और अपने साहाय्य, संरक्षण, मार्गदर्शन और अनुमोदनके लिये एकमात्र भगवान्‌को ही जोहना चाहिये। जिसको यह मालूम है कि उसे भगवान्‌का अनुमोदन और सहारा प्राप्त है, फिर उसकी यदि सारी-की-सारी दुनियां निन्दा करती रहे, तो वह इसकी क्या परवा करता है।

इसके अतिरिक्त क्या मानव-जातिने अपने ही अस्तित्वको संगठित करनेमें अपनी नितांत अक्षमता साबित नहीं कर दी है? एक शासनतंत्र नष्ट होता है दूसरा शासनतंत्र बनता है, एक हुकूमत खतम होती है

दूसरी हुकूमत कायम होती है, शताब्दियोंपर शताब्दियां बीतती जाती हैं, पर मनुष्यकी दुर्दशा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। जबतक मनुष्य इसी तरहका रहेगा जैसा कि वह है, अंधा और अज्ञानी, समस्त आध्यात्मिक वास्तविकताकी ओरसे अपनेको बंद किये हुए, तबतक यह अवस्था बनी ही रहेगी। मानव-जातिकी अवस्थामें वास्तविक सुधार एक ही प्रकार-से हो सकता है और वह है मानव-चेतनाका रूपांतरित होना, रूपांतरित होकर प्रकाशमान हो जाना। सो, मानव-जीवनके दृष्टिकोणसे भी हम न्यायतः इसी परिणामपर पहुंचते हैं कि मनुष्यका सबसे पहला कर्त्तव्य यह है कि वह भागवत चेतनाको ढूंढ़े और उसे प्राप्त करे।

७

भगवान्के बिना जीवन एक दुःखमय माया है, भगवान्के साथ सब कुछ आनन्द ही आनन्द है।

* *

भगवान्की भुजाओंमें आश्रय ग्रहण करनेसे सब कठिनाइयां हल हो जाती हैं। कारण उनकी भुजाएं प्रेमके साथ हमें अपनी शरणमें ले लेनेके लिये सदा खुली हुई हैं।

* *

भगवान्की ओर मुड़ो, तुम्हारे सब दुःख-दर्द विलीन हो जायंगे।

* *

भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको सच्चे भावसे अर्पित कर देनेसे ही हम अपने अनगिनत मानवीय दुःख-दर्दोंसे छुटकारा पा सकते हैं।

* *

शांति असीम होनी चाहिये, अचंचलता गहरी और प्रशांत, स्थिरता अचल तथा भगवान्में भरोसा सदा बढ़नेवाला।

* *

भगवान्के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करनेका इससे अधिक अच्छा और कोई तरीका नहीं कि शांतभावसे प्रसन्न रहा जाय।

* *

भगवान्द्वारा तुम्हें जो कुछ मिलता है उसे सदा हर्षपूर्वक स्वीकार करो।

* *

सब कुछ सुवर्ण, सुवर्ण, सुवर्ण ही था, सुनहली ज्योतिका एक प्रवाह

निरवच्छिन्न धारामें ऊपरसे बरस रहा था और अपने साथ इस चेनताको ला रहा था कि, देवताओंका मार्ग सूर्यज्योतिसे आलोकित एक ऐसा मार्ग है जिसमें कठिनाइयोंकी सब वास्तविकता विलीन हो जाती है।

ऐसा वह मार्ग हमारे सामने खुला हुआ है, यदि हम उसको ग्रहण करना पसंद करें।

* *

मुस्कानका कठिनाइयोंपर वैसा ही असर होता है, जैसा कि सूर्यका बादलोंपर—यह उन्हें छिन्न-भिन्न कर देती है।

* *

किसी शत्रुपर मुस्करानेका अर्थ है उसे निरस्त्र कर देना।

* *

आत्म-जयसे बढ़कर और कोई विजय नहीं है, यही है समस्त स्थायी सुखोंका आधार।

* *

अपने सुखके लिये चिंता करना, दु:खी होनेका निश्चिततम उपाय है।

* *

सुख जीवनका लक्ष्य नहीं है।

साधारण जीवनका लक्ष्य है अपने कर्त्तव्यको पूरा करना। आध्यात्मिक जीवनका लक्ष्य है भगवान्‌को प्राप्त करना।

* *

यदि हम चाहते हैं कि हमारा सुख अक्षुण्ण और पवित्र बना रहे, तो हमें इस बातके लिये भरपूर प्रयत्न करते रहना चाहिये कि इसपर किन्हीं अमैत्रीपूर्ण विचारोंकी दृष्टि आकृष्ट न हो।

* *

शांति और निश्चलता रोगोंको दूर करनेके लिये महान् औषध हैं।

जब हम अपने शरीरके अणुओंमें शांति ले आ सकेंगे, तभी हम रोगमुक्त हो जायंगे।

* *

शरीरको चाहिये कि वह रोगको वैसी ही प्रबलताके साथ त्याग दे, जैसे कि हम मनमेंसे झूठको त्याग देते हैं।

*   *

अभीतक सुख और अच्छा स्वास्थ्य इस संसारकी स्वाभाविक अवस्था नहीं है।

इनकी हमें बड़ी सावधानीके साथ रक्षा करनी चाहिये, जिससे कि इनके जो विरोधी भाव हैं, कहीं वे न आ घुसें।

*   *

निरवच्छिन्न सुखका स्रोत अन्तरात्मामें है।

*   *

इस पार्थिव प्राणीके अन्दर कुछ भी नित्य नहीं है, सिवाय अन्तरात्माके।

*   *

यदि कलाको दिव्य जीवनके संबंधमें कुछ अभिव्यंजना करनी है, तो वहां भी एक विशाल और प्रकाशमय शांति स्वतः प्रकट होनी चाहिये।

*   *

भगवान्में हमारा भरोसा किन्हीं बाहरी परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं करना चाहिये।

*   *

यदि हमें भगवान्को समझना है तो हमें अपनी तरजीहोंको बिदा कर देना चाहिये।

*   *

यदि हमें सचमुच भगवान्से प्रेम करना है, तो हमें आसक्तियोंसे ऊपर उठ जाना चाहिये।

*   *

यदि हमें भगवान्के प्रेमसे सचेतन होना है, तो हमें और सब प्रेम छोड़ देना चाहिये।

*   *

बिचारे भगवान् ! उन्हें न जाने कितने भयंकर-भयंकर कृत्योंका दोषी ठहराया जाता है।

यदि ये आरोप सच्चे होते, तब तो वे न जाने कितने बड़े दैत्य होते, वे जो असलमें करुणामय हैं।

*   *

हमारे सब विचार, हमारी सब भावनाएं भगवान्‌की ओर जायंगी, जैसे नदी समुद्रकी ओर जाती है।

*   *

भगवान्‌का साक्षात्कार करना,- यही हमारे जीवनकी एकमात्र आवश्यकता हो जाय।

*   *

केवल भगवान्‌को ही अपने आत्माका विश्वसनीय साथी बनाओ।

*   *

वही संकल्प करना जो कि भगवान्‌का संकल्प है–यही है परम रहस्य।

*   *

केवल भगवान्‌का चिंतन करो, तो भगवान् तुम्हारे साथ होंगे।

*   *

हमारा संपूर्ण जीवन ही भगवान्‌के प्रति की गयी प्रार्थनारूप होना चाहिये।

*   *

भगवान्‌के लिये कर्म करना, शरीरके द्वारा उनकी उपासना करना है।

*   *

भगवान्‌की सेवाके सिवाय हमें किसी भी अन्यकी सेवामें नहीं रहना चाहिये।

*   *

भगवान्‌के यहां तुम्हारा उससे अधिक कुछ भी मूल्य नहीं है, जितना कि तुम भगवान्‌को दे चुके हो।

*　　　　*

जो कुछ भगवान्‌को दिया जा चुका है उसको छोड़कर बाकी कुछ भी सुरक्षित नहीं है।

*　　　　*

यात्रा चाहे कितनी ही लम्बी हो और यात्री चाहे कितना ही महान्, किंतु अन्तमें सदा यही पाया जाता है कि इसको पार करनेका कारण है भगवान्‌की कृपापर अनन्य भरोसा।

*　　　　*

जब हमारी एक सुनिश्चित आध्यात्मिक प्रगति हो जाती है तब भगवान्‌के अदृश्य शत्रु सदा बदला लेनेकी चेष्टा करते हैं और जब वे हमारे आत्मापर चोट नहीं कर सकते, तब वे हमारे शरीरपर प्रहार करते हैं। किंतु उनके ये सब प्रयत्न व्यर्थ हैं और अंतमें परास्त कर दिये जायंगे, क्योंकि भगवान्‌की कृपा हमारे साथ है।

*　　　　*

एकमात्र भगवत्कृपापर ही आश्रित रहना और सभी परिस्थितियोंमें उसकी सहायताका आवाहन करना, यह हमें सीखना होगा; तब वह निरंतर चमत्कार करके दिखलायेगी।

*　　　　*

आओ, हम अपनी संकल्प-शक्तिको भगवत्कृपाके भेंट चढ़ा दें, यह कृपा ही सब कुछ सिद्ध करती है।

*　　　　*

हमारा भगवान्‌में जितना भरोसा है उसी अनुपातमें भगवत्कृपा हमारे लिये काम कर सकती और हमें सहायता पहुंचा सकती है।

*　　　　*

भगवत्कृपाके सामने कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी ?
सब कोई उन एक ही अभिन्न माताकी संतान हैं।

उनका प्रेम सब किसीपर एक सरीखा बरस रहा है।
परंतु हरएकको वे उसकी प्रकृति और ग्रहणसामर्थ्यके अनुसार देती हैं।

*　　　　*

आओ, हम अपने-आपको पूर्ण रूपसे तथा कुछ भी बचाये विना भगवान्को सौंप दें, तभी हम भली प्रकारसे भगवत्कृपाको प्राप्त कर सकेंगे।

*　　　　*

उस परम पुरुषने अपनी कृपाको इस जगत्में भेजा है, इसकी रक्षाके लिये।

*　　　　*

पर्वतीय पथ सदा दो दिशाओंमें ले जाता है, ऊपरकी तरफ और नीचेकी तरफ–सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि हमने किस दिशाको अपनी पीठके पीछे कर रखा है।

*　　　　*

अंधकारभरी भौतिक प्रकृतिपर जब हम कोई विजय प्राप्त करते हैं तो ऐसी प्रत्येक विजय भविष्यमें होनेवाली किसी महत्तर विजयकी आशा बंधानेवाली होती है।

*　　　　*

इस विश्वके निरंतर आगे-आगे बढ़ते जानेकी क्रियामें जो कुछ भी कार्य सिद्ध हुआ है वह एक नयी और अधिक महान् दिव्य सिद्धिकी ओर केवल पहला कदम है।

*　　　　*

कामनाको तृप्त करनेकी अपेक्षा उसको जय करनेसे कहीं अधिक सुख मिलता है।

*　　　　*

उन सब बातोंसे वचनेके लिये हमें सदा बहुत ही सावधान रहना चाहिये, जो हमारे अंदर लोक-दिखावेके भावको प्रोत्साहन दे सकती हों।

*　　　　*

जब तुम अपने अंदरसे हिंसाके भावको बिलकुल निकाल दे सकोगे, तभी तुम भयसे सर्वथा विनिर्मुक्त हो सकोगे।

* *

सच्चे साहसमें न तो अधीरता होती है, न जल्दबाजी।

* *

साहस आत्माकी महानताका एक लक्षण है।

परंतु यह साहस स्थिर, आत्मवशी, उदार और दयाशील होना चाहिये।

* *

अपने दोषोंको स्वीकार करना एक उत्कृष्टतम साहस है।

* *

ईर्षा अपनी परिरक्षिका असूयाके साथ, दुर्बल और लघु मनुष्योंमें ही पैदा होती है।

यह हमारे क्रोधकी अपेक्षा हमारी दयाकी ही पात्र है और हमें, अपनी अडिग निश्चितताके आनन्दमें मग्न रहते हुए, इस (ईर्षा) के प्रति सर्वथा उदासीन ही बने रहना चाहिये।

* *

रोष या अपमानसे ऊपर उठ जाना, मनुष्यको सच्चे अर्थोंमें महान् बना देता है।

* *

सदा सत्य बात ही बोलना, उच्च कोटिका मनुष्य होनेकी सर्वोत्कृष्ट पहचान है।

* *

कलारचनामें भी हमें सदा ऊंचाईपर ही रहना चाहिये।

* *

सुरुचि कलाकी कुलीनता है।

* *

भगवान् भौतिक जगत्में सौंदर्यके द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, मनोमय-

में ज्ञानके द्वारा, प्राणमयमें बलके द्वारा और हृत्पुरुषमें प्रेमके द्वारा।

जब हम काफी ऊंचे उठ जाते हैं, तो हम देखते हैं कि, वहां ये चारों रूप एक दूसरेमें घुलमिलकर एक ही चेतना बन जाते हैं—एक अकेली प्रकाशमयी, बलशालिनी, सौंदर्यमयी, सर्वग्राहिणी, सर्वव्यापिनी, प्रेममयी चेतना।

यह केवल विश्वकी लीलाके लिये ही है कि, यह एक दिव्य चेतना अभिव्यक्तिकी इन कई धाराओं या रूपोंमें विभक्त हो जाती है।

* *

देवताओंतकको उस परम देवके प्रति आत्मसमर्पण करना होगा, यदि इस पृथिवीपर दिव्य सृष्टिकी प्रतिष्ठा होनी है।

* *

अज्ञानावस्थामें मानसिक सम्मतियां सदा एक दूसरेकी विरोधिनी होती हैं।

सत्यकी अवस्थामें ये सम्मतियां एक उच्चतर ज्ञानके लिये परस्पर-पूरक रूप होती हैं।

* *

प्रत्येक व्यक्तिको हरएक बात उसके समझनेके सामर्थ्यके अनुसार ही कही जाती है।

इसका यह मतलब होता है कि, जो ज्ञान एकको दिया गया है वह, हो सकता है कि, दूसरेके लिये उपयोगी या अच्छा न हो। यही कारण है कि वैयक्तिक तौरपर दिया गया गुरुका उपदेश दूसरोंपर प्रकट नहीं करना चाहिये।

* *

नये सिरेसे उसे भरा जा सके, इसके लिये पात्रको कभी-कभी खाली करना पड़ता है।

जब हम अपनेको किसी महत्तर ग्रहणशीलताके लिये तैयार करते होते हैं, तभी हम अपनेको खाली अनुभव करते हैं।

* *

तथाकथित 'प्रकृतिकी शक्तियां' इसके सिवाय और कुछ नहीं कि ये उन सत्ताओंकी बाह्य हलचल हैं जो परिणाममें और अपने वशवर्त्ती बलोंमें मनुष्यसे बहुत बढ़ी-चढ़ी होती हैं।

* *

एक सूक्ष्म जगत् है, जहां तुम चित्रकारीके लिये, उपन्यासोंके लिये, सब प्रकारके नाटकोंके लिये यहांतक कि सिनेमाके लिये भी, सब संभावित विषयोंको देख सकते हो।

अधिकांश रचयिता अपनी प्रेरणा उसी जगत्से प्राप्त करते हैं।

* *

इस विश्वके आश्चर्यका कहीं अंत नहीं।

ज्यों-ज्यों हम अपने तुच्छ 'अहं' की सीमाओंसे मुक्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों ये आश्चर्य अधिकाधिक हमारे सामने प्रकट होते जाते हैं।

* *

अपने 'अहं' को अतिक्रम कर जाना कोई सुगम कार्य नहीं।

सांसारिक चेतनामें इसको जीत लेनेके बाद भी, आध्यात्मिक चेतनामें यह फिर एक बार–अधिक बढ़े-चढ़े रूपमें–हमारे सामने आता है।

* *

हमारी अभीप्साका सूर्य अहंकारके बादलोंको छिन्न-भिन्न कर दे।

* *

हृदयकी निश्चल-नीरवतामें अभीप्साकी स्थिर अग्नि जल रही है।

* *

प्रत्येक ध्यान एक नवीन प्रकाशका लानेवाला होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक ध्यानमें कुछ-न-कुछ नयी बात होती है।

* *

प्रत्येक नव-प्रभात एक नयी उन्नतिकी संभावना लानेवाला होता है।

* *

बिना जल्दी मचाये हम आगे-आगे गति कर रहे हैं। कारण हम अपने भविष्यके बारेमें सुनिश्चित हैं।

*　　　　　*

जो जिस वस्तुसे प्रेम करता है वह उसीके जैसा बनता जाता है।

*　　　　　*

हम सदा उन वस्तुओंसे घिरे रहते हैं, जिनका हम चिंतन करते हैं।

*　　　　　*

विरोधी शक्तियोंका निरंतर चिंतन करना और उनसे डरना एक बड़ी खतरनाक कमजोरी है।

*　　　　　*

मांसपेशियोंकी तरह एकाग्रता और संकल्पशक्तिको भी समुन्नत किया जा सकता है; ये नियमित साधन और अभ्यासके द्वारा बढ़ती हैं।

*　　　　　*

हमारी चेतना एक बाल-पक्षीकी तरह है। इसे अपनी पांखोंका इस्तेमाल करना सीखना पड़ता है।

*　　　　　*

वह दिव्य उपस्थिति दिनरात निरवच्छिन्न रूपसे विद्यमान है। केवल हम निश्चल-नीरव होकर अंदर प्रवेश करें कि उसे पा लेंगे।

*　　　　　*

यदि हम अपनी वाणी या कलमके द्वारा किसी असत्यको, फिर वह बहुत छोटासा ही क्यों न हो, प्रकट होने दें तो हम सत्यके सिद्ध संदेशवाहक बननेकी क्योंकर आशा कर सकते हैं? सत्यके सिद्ध संदेश-वाहकको तो तनिकसी अयथार्थता, अतिशयोक्ति और विकृतिसे भी परे रहना चाहिये।

*　　　　　*

सच्चाईमें ही है, विजयकी निश्चितता।
अरी सच्चाई ! कितनी मधुर है तेरी उपस्थितिकी पवित्रता।

*　　　　　*

सरलता परम सौंदर्यसे भरी हुई होती है।

*   *

जो प्रतीक्षा करना जानता है वह काल-देवको अपने पक्षमें रखता है। जो धैर्य रखता है वह सदा अपने गंतव्य स्थानपर पहुंच जाता है। सतत प्रयत्नशील संकल्प सब बाधा-विघ्नोंको पार कर जाता है।

*   *

सिद्धिका अर्थ आत्यंतिक अवस्था या चरम अवस्था नहीं है। इसका अर्थ है संतुलित और सामञ्जस्यपूर्ण अवस्था।

*   *

आवेगमें आकर कोई काम मत करो।

जो मनुष्य अपने आवेगोंका दास है, और अपनेको संयममें नहीं रख सकता, उसका जीवन अस्त-व्यस्त रहता है।

*   *

जब दो मनुष्य झगड़ते हैं, तो सदा दोनों ही दोषी होते हैं।

*   *

मिताचारने कभी किसीका अनिष्ट नहीं किया है।

*   *

यह जगत् निरर्थक शब्दोंके कोलाहलसे बहरा हो गया है।

*   *

किसी व्यक्तिकी उत्कृष्टता नापी जाती है, उसकी कृतज्ञ होनेकी क्षमतासे ।

*   *

कोई उपदेश उसी अवस्थामें लाभदायक हो सकता है, जब वह पूर्ण रूपसे सच्चा हो, आंतरिक हो, अर्थात् उसको देनेवाला उसे अपने जीवनमें उतार चुका हो। जो शब्द बार-बार दोहराये गये हों, जो विचार बार-बार व्यक्त किये गये हों, वे फिर आंतरिक नहीं रह जाते।

*   *

भागवत चेतनामें अपने-आपको विलीन कर देना, हमारा लक्ष्य

नहीं है। हमारा लक्ष्य है भागवत चेतनाको स्थूलमें प्रवेश करने देना और उसका रूपान्तर करना।

*   *

ओ प्रभु, तेरे बिना जीवन एक राक्षसी कांड है। तेरी ज्योति, तेरी चेतना, तेरी सुन्दरता और तेरी शक्तिके बिना समस्त सृष्टि एक अशुभ और भद्दा प्रहसन है।

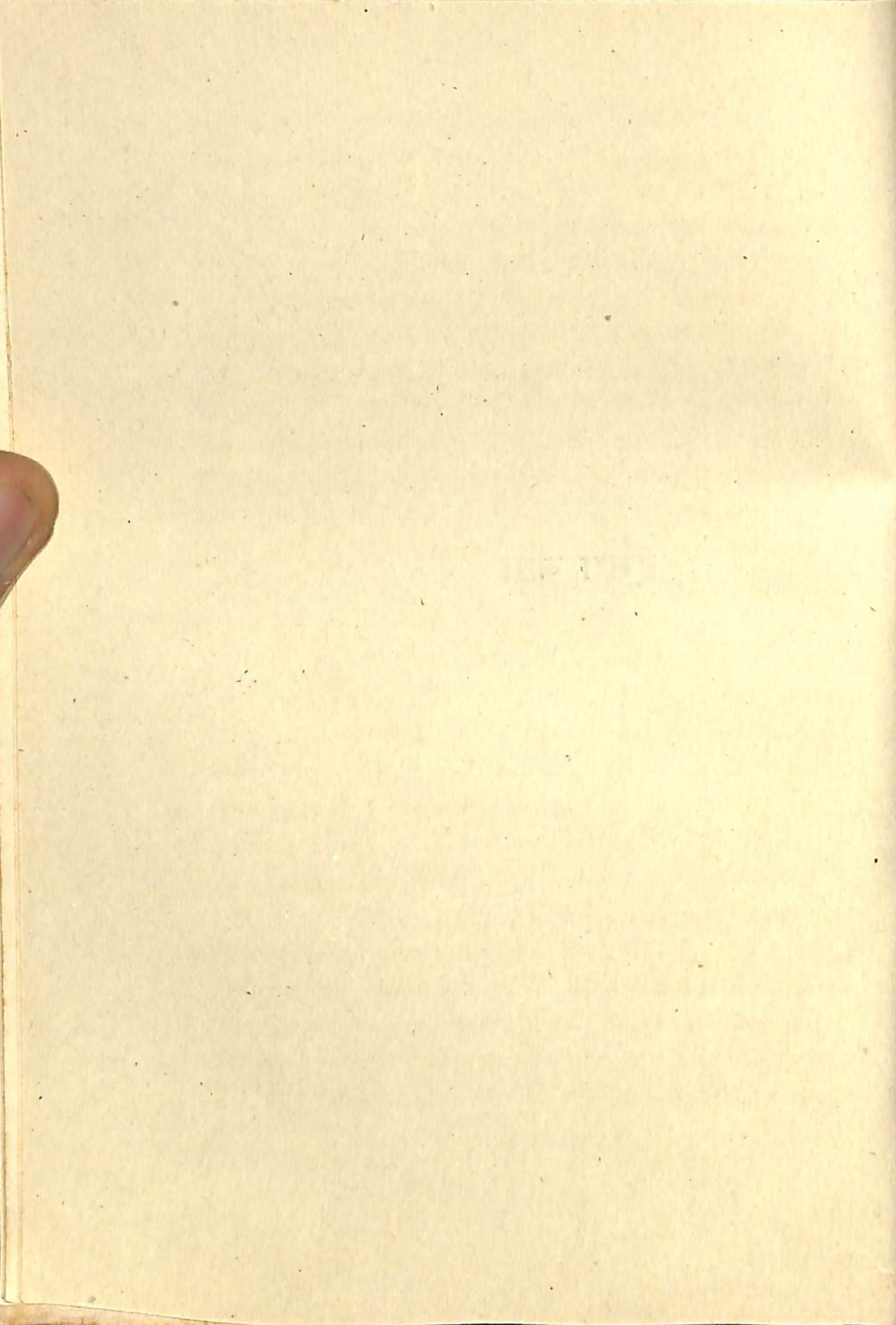
*   *

ओ प्रभु, तेरा प्रेम इतना महान्, इतना श्रेष्ठ और इतना पवित्र है कि वह हमारी धारणा-शक्तिसे परे है। वह अपरिमेय है और अनंत है। हमें उसे घुटने टेककर ग्रहण करना चाहिये, और फिर भी तूने उसे इतना मधुर बनाया है कि हममेंसे जो अत्यंत दुर्बल हैं वह भी, यहांतक कि एक बालक भी उसको ग्रहण कर तेरे पास पहुंच सकता है।

*   *

ओ प्रभु, जो भी कुछ है और जो भी कुछ होगा उस सबकी गहराईमें तेरी दिव्य और एकसी मुस्कान हो रही है।

दूसरा भाग



१

"क्या आप योगके विषयमें कुछ कहनेकी कृपा करेंगी ?"

तुम योग-साधना किसलिये करना चाहते हो ? शक्ति प्राप्त करनेके लिये ? शांति और स्थिरताकी प्राप्तिके लिये ? मानव-जातिके कल्याणके लिये ?

इनमेंसे कोई भी भाव इस बातका पर्याप्त द्योतक नहीं है कि तुम इस योगमार्गके लिये हो।

जिस प्रश्नका तुमको उत्तर देना है वह तो यह है । क्या तुम भगवान्के लिये योग-साधना करना चाहते हो ? क्या भगवान् ही तुम्हारे जीवनके परम सत्य हैं, यहांतक कि तुम्हारी ऐसी अवस्था हो गयी है कि तुम उनके बिना रह ही नहीं सकते ? क्या तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे जीवनका कारण ही एकमात्र भगवान् हैं और उनके बिना तुम्हारे जीवनका कोई अर्थ ही नहीं है ? यदि ऐसा है तो ही यह कहा जा सकता है कि इस योग-मार्गके लिये तुम्हारे अंदर पुकार है।

जो बात सबसे पहले आवश्यक है वह यही है–भगवान्के लिये अभीप्सा।

दूसरी बात जो तुम्हें करनी है वह है इस अभीप्साको सतत बनाये रखना, उसे सदा जीवंत, ज्वलंत और जाग्रत रखना। और इसके लिये जिस बातकी आवश्यकता है वह है एकाग्रता–भगवान्में एकाग्रता, जो उनके संकल्प और अभिप्रायके प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्मसमर्पणके भावसे की गयी हो।

हृदय-केंद्रमें अपने-आपको एकाग्र करो। हृदयमें प्रवेश करो, उसके अंदर जाओ, उसकी गहराईमें उतरो और दूरतक चले जाओ, इतनी दूर जितनी दूरतक तुम जा सको। अपनी चेतनाके बाहरकी ओर बिखरे हुए समस्त तारोंको एकत्र कर लो, उन्हें समेटकर उनकी एक लच्छी बना लो और फिर अंदर डुबकी लगाओ और तहमें जाकर बैठ जाओ।

वहां, हृदयकी गभीर शांतिमें एक अग्नि जल रही है। यही है तुम्हारे अंतरमें रहनेवाले भगवान्का दिव्य अंश– तुम्हारी सत्य सत्ता (हृत्पुरुष)। इसकी ध्वनिको सुनो और इसके आदेशका पालन करो।

एकाग्रताके लिये दूसरे केंद्र भी हैं, उदाहरणार्थ, एक केंद्र मस्तिष्कके ऊपर है (सहस्रार), दूसरा भ्रूमध्यमें है (आज्ञा)। इनमेंसे हरेकका अपना प्रभाव है और ये सभी तुम्हें एक विशिष्ट लाभ पहुंचायेंगे। परन्तु हृत्पुरुषका स्थान हृदय है और हृदयसे ही समस्त कैंद्रिक प्रवृतियां निकलती हैं–यहींसे रूपान्तरके लिये समस्त गतिशीलता और अनुरोध और आत्मदर्शन करनेकी शक्ति प्रसूत होती है।

"जिसको योग-साधना करनेका अधिकारी बनना हो, उसे क्या करना चाहिये?"

पहले तो उसको सचेतन होना चाहिये। अपनी सत्ताके अत्यंत तुच्छ भागसे ही हम सचेतन हैं, इसके अधिकांश भागसे हम अचेतन हैं। यह अचेतना ही हमको अपनी प्रकृतिके अपरिमार्जित भागके साथ नीचेकी ओर बांधे रहती है और उसके परिवर्तन या रूपान्तरको अटकाती है। इस अचेतनाद्वारा ही अदिव्य शक्तियां हमारे अंदर घुस आती हैं और हमको अपना गुलाम बना लेती हैं। तुम्हें अपने-आपसे सचेतन होना चाहिये, अपनी प्रकृति और प्रवृत्तियोंके प्रति तुम्हें जाग्रत होना चाहिये, तुमको यह जानना चाहिये कि तुम क्यों और कैसे किन्हीं कार्योंमें प्रवृत्त होते हो, किन्हीं बातोंका अनुभव अथवा विचार करते हो। तुम्हें अपने प्रेरक-भावों, आवेशों और अपनी गुप्त या प्रकट शक्तियोंका, जिनकी

प्रेरणासे तुम कार्य करते हो, ज्ञान होना चाहिये; वास्तवमें तुमको अपनी सत्तारूपी यंत्रके पुरजे-पुरजेको जुदा-जुदा करके भलीभांति जान लेना चाहिये। एक बार जहां तुम सचेतन हो गये तो तुममें यह योग्यता हो जाती है कि तुम विवेक कर सको, खरे और खोटेकी परख कर सको, यह देख सको कि कौनसी शक्तियां तो तुम्हें नीचेकी ओर खींचती हैं और कौनसी शक्तियां ऊपर उठनेमें तुम्हारी सहायता करती हैं। और जब तुममें उचितको अनुचितसे, सत्यको असत्यसे, दिव्यको अदिव्यसे अलग करके जान लेनेकी योग्यता हो जाती है, तब तुमको अपने इस ज्ञानका कठोरताके साथ अनुसरण करना चाहिये, अर्थात् दृढ़तापूर्वक एकका त्याग तथा दूसरेको स्वीकार करना चाहिये। पग-पगपर ये द्वंद्व तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे और पग-पगपर इनमेंसे एकको तुम्हें पसंद कर लेना होगा। तुम्हें धैर्य रखना होगा, लगन लगाये रहना होगा और चौकन्ना रहना होगा—योगियोंकी भाषामें 'जागते रहना' होगा; जो कुछ भी दिव्य हो उसे स्वीकार करना और जो कुछ भी अदिव्य हो उसे किसी भी प्रकारका मौका देनेसे इनकार करना होगा।

"क्या यह योग मनुष्य-जातिके लिये है?"

नहीं, यह भगवान्के लिये है। हमारी साधनाका ध्येय मनुष्य-जातिका कल्याण नहीं है, हमारी साधनाका हेतु है भगवान्की अभिव्यक्ति। हम भगवान्के संकल्पको कार्यमें परिणत करनेके लिये यहां हैं, बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि हम इसलिये यहां हैं कि भगवान्का संकल्प हमें अपने काममें लगा ले, जिससे कि पुरुषोत्तमको उत्तरोत्तर मूर्त्तिमान् करने और उनके राज्यकी पृथ्वीपर स्थापना करनेके निमित्त हम उनके यंत्र बन सकें। मानव-जातिका जो भाग इस भागवत पुकारका प्रत्युत्तर देगा केवल वही उनके प्रसादको प्राप्त करेगा।

प्रत्यक्ष रूपसे यदि न भी हो तो अप्रत्यक्ष रूपसे ही सही, इस योग-द्वारा सामूहिक रूपमें मानव-जातिको लाभ होगा या नहीं, यह बात

मानव-जातिकी अपनी अवस्थापर निर्भर करेगी। इस विषयका निर्णय यदि मानव-जातिकी वर्त्तमान अवस्थाओंसे किया जाय तब तो बहुत अधिक आशा नहीं दिखायी देती। जिसको मनुष्य-जातिका प्रतिनिधि कहा जा सके, ऐसे एक औसत मनुष्यको ले लो; उसका आज क्या भाव है? क्या यह ठीक नहीं है कि विशुद्ध रूपसे भगवान्‌का अंश धारण करनेवाली किसी भी वस्तुके संपर्कमें आते ही वह क्रोधसे कांप उठता या विद्रोह करता है? क्या वह यह नहीं अनुभव करता कि भगवान्‌का अर्थ ही है उसकी पालीपोसी हुई संपत्तिका नाश? क्या वह भगवान्‌की इच्छा और संकल्पका साफ-साफ इनकार करके उसके सामने अपनी आवाज नहीं उठाता। भगवान्‌के आविर्भावसे कुछ भी लाभ उठानेकी आशा कर सके, इसके लिये मानव-जातिको बहुत कुछ परिवर्तित होना होगा।

"हम सब लोग यहां एक साथ मिले हैं इसका क्या अर्थ है?"

हम सभी लोग पूर्व जन्ममें मिल चुके हैं, नहीं तो इस जन्ममें हम लोग एक साथ न होते। हम सब एक ही परिवारके हैं और भगवान्‌की विजय तथा पृथिवीपर उनकी अभिव्यक्तिके लिये हम लोगोंने युग-युगमें काम किया है।

२

"योग-मार्गमें क्या-क्या खतरे हैं? क्या योग विशेषतः पाश्चात्य देशवासियोंके लिये ही खतरनाक है? किसीने कहा है कि पौरस्त्य लोगोंके लिये योग करना अनुकूल हो सकता है, किंतु पाश्चात्य लोगों-पर तो इसका जो असर होता है वह उनकी मानसिक समतोलताको बिगाड़ देता है।"

योग पाश्चात्य देशवासियोंके लिये, पौरस्त्य देशवासियोंकी अपेक्षा कोई अधिक खतरनाक नहीं है। सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि तुम किस भावसे इसमें प्रवृत्त होते हो। यदि तुम योग अपने ही लिये, किसी व्यक्तिगत स्वार्थके लिये करना चाहते हो, तो अवश्य ही यह खतरनाक हो जाता है। परंतु यदि तुम इसकी जो पवित्रता है, उस भावनाको रखते हुए योगमें प्रवृत्त होते हो और सदा यह स्मरण रखते हो कि तुम्हारा लक्ष्य भगवान्‌को पाना है, तो फिर योगसे किसी बातका खतरा नहीं, बल्कि तब तो यह उलटे तुम्हें निरापद रखता है और तुम्हारे लिये संरक्षणरूप हो जाता है।

खतरे और कठिनाइयां तो तब उपस्थित होती हैं जब कोई भगवान्‌के लिये योग-साधना नहीं करता, बल्कि इसको किसी शक्तिकी प्राप्ति-के लिये करता है और योगकी आड़में किसी महत्त्वाकांक्षा-की पूर्ति करना चाहता है। यदि तुम महत्त्वाकांक्षाओंसे छुटकारा नहीं पा सकते तो इसका स्पर्श मत करो। यह आग है, जो जला देती है।

योग-साधना करनेके दो मार्ग हैं, एक है तपस्याका और दूसरा है समर्पणका। तपस्याका मार्ग कठोर है, इस मार्गमें तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर करते हो, अपने निजी सामर्थ्यसे ही आगे बढ़ते हो। तुम्हारी अपनी शक्तिके परिमाणमें ही तुम्हारा आरोहण होता है और उतना ही तुमको फल मिलता है। इस मार्गमें नीचे गिरनेका भय सदा ही रहता है। और एक बार जहां तुम्हारा पतन हुआ तो तुम गहरी खाईमें नीचे गिरकर चूर-चूर हो जाओगे और शायद ही फिर उठ सको। परन्तु दूसरा मार्ग, समर्पणका मार्ग निरापद और निश्चित है। परन्तु यहींपर पाश्चात्य देशवासियोंको कठिनाई होती है। उनको यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीजोंसे डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनताका अपहरण करती दीखती हों। वे लोग व्यक्तित्वकी भावना-को अपनी माताके दूधके साथ-साथ जीवनगत किये हुए होते हैं। और समर्पणका अर्थ है इस सबका अर्पण। दूसरे शब्दोंमें जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, तुम बंदरके बच्चे और बिल्लीके बच्चे, इन दोमेंसे किसी एकके मार्गका अनुसरण कर सकते हों। बंदरके बच्चेको इधर-उधर ले जाये जानेके लिये अपनी मांकी छातीसे चिपक जाना पड़ता है, उसे अपनी मांको कसकर पकड़े रहना होता है और जो कहीं उसकी मुट्ठी ढीली पड़ी तो वह गिर जाता है। परन्तु बिल्लीका बच्चा अपनी मांको नहीं पकड़ता, बल्कि उसकी मां ही उसे पकड़े रखती है, इसलिये उसको न कोई भय है न उत्तरदायित्व; उसे तो केवल इतना ही करना पड़ता है कि वह अपनी माताकी पकड़में आ जाय और मां-मां करता रहे।

इस समर्पण-मार्गको यदि तुम पूर्ण रूपसे और सच्चाईके साथ ग्रहण कर लो, तो फिर खतरा या गंभीर कठिनाई नहीं होती। प्रश्न केवल तुम्हारे सच्चे होनेका है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योगसाधना आरंभ मत करो। यदि तुम मानवी विषयोंमें हाथ डालते तो वहां धोखा-धड़ी चल सकती थी, किंतु भगवान्‌के साथ व्यवहार करनेमें धोखेके लिये कोई स्थान नहीं है। इस मार्गमें तुम तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम निष्कपट और निश्चल होओ और जब तुम्हारा एक-

मात्र ध्येय भगवान्‌का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

एक और खतरा है और वह है काम-वासनाके सम्बन्धमें। योग अपनी पवित्रीकरणकी प्रक्रियामें उन समस्त वासनाओं और इच्छाओंको जो तुममें छिपी पड़ी हैं, उघाड़ देगा और उनको ऊपरी तलपर उठा लायेगा। और तुमको यह सीखना होगा कि तुम इन चीजोंको न तो छिपाओ न इनकी अवहेलना करो; तुम्हें इन सब चीजोंसे मुकाबला करना होगा, इनपर विजय प्राप्त करनी होगी और इनको एक नये सांचेमें ढाल देना होगा। अस्तु, योगका प्रथम प्रभाव होता है मानसिक संयमको हटा लेना, इससे साधककी अतृप्त वासनाएं, जो उसके अन्दर सुप्त अवस्थामें पड़ी हुई होती हैं, हठात् मुक्त हो जाती हैं, ऊपरमें उभड़ आती हैं और उसपर आक्रमण करती हैं। इस मानसिक संयमका स्थान जबतक भागवत संयम ग्रहण नहीं कर लेता तबतक एक संक्रमणकाल रहता है और इस कालमें तुम्हारी सच्चाई और समर्पण कसौटीपर कसे जायंगे। काम-वासना और इस प्रकारके अन्यान्य आवेशोंको बल मिलनेका प्रायः यह कारण होता है कि लोग इनपर बहुत अधिक ध्यान देते हैं, वे इनका बहुत तीव्रताके साथ प्रतिवाद करते हैं और इनको निग्रहद्वारा रोके रखना चाहते हैं, इन्हें अपने अन्दर भरे हुए किसी तरह दबाभर रखना चाहते हैं। परन्तु जितना ही अधिक तुम किसी चीजके बारेमें सोचते हो और यह कहते हो कि "मैं उसे नहीं चाहता, मैं उसे नहीं चाहता", उतना ही अधिक तुम उस चीजसे ग्रस्त होते जाते हो। तुम्हें जो कुछ करना चाहिये वह यह है कि तुम उस चीजको अपनेसे दूर रखो, उससे असम्बद्ध रहो, उसपर जितना कम-से-कम ध्यान दे सको उतना कम ध्यान दो और इसपर भी यदि वह कभी तुम्हारे चिंतनमें आये तो उससे उदासीन और निर्लिप्त रहो।

योगका दबाव पड़नेके कारण जो इच्छाएं और वासनाएं ऊपरमें उभड़ आती हैं उनका अनासक्त रहकर और शान्तिके साथ मुकाबला करना चाहिये, यह समझना चाहिये कि ये तुमसे विजातीय वस्तुएं हैं अथवा

बाह्य जगत्की चीजें हैं जिनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्हें भगवान्को सौंप देना चाहिये, जिससे कि भगवान् उनको अपने हाथमें ले लें और उनका रूपान्तर कर दें।

एक बार यदि तुम अपने-आपको भगवान्की ओर खोल चुके हो, यदि भगवान्की शक्ति एक बार तुममें उतर चुकी है और फिर भी यदि तुम पुरानी शक्तियोंके साथ सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हो तो तुम अपने लिये कष्टों, कठिनाइयों और खतरोंको मोल लेते हो। तुम्हें सावधान रहना चाहिये और बराबर देखते रहना चाहिये कि कहीं तुम भगवान्की आड़में अपनी इच्छाओंको तो संतुष्ट नहीं कर रहे हो। ऐसे बहुतसे अपने-आप बने हुए गुरु हैं जो असलमें यही करते हैं। और फिर जब तुम सीधे मार्गको छोड़कर भटक जाते हो और जब तुममें थोड़ा ज्ञान तो हुआ है, किंतु अच्छी तरह शक्ति नहीं होती, तब यह होता है कि एक विशेष प्रकारके सत्व या सत्ताएं तुमपर अपना अधिकार जमा लेती हैं, तुम्हें अपना खिलौना बना लेती हैं और अन्तमें तुमको निगल जाती हैं। जहां कहीं कपट है वहीं खतरा है। तुम भगवान्को धोखा नहीं दे सकते। क्या तुम ऐसा कर सकते हो कि तुम भगवान्के पास जाओ तो यह कहते हुए कि "मैं आपके साथ एक हो जाना चाहता हूं" और उस समय तुम्हारे मनमें हो कि "मैं शक्ति और भोग चाहता हूं ?" सावधान ! यदि ऐसा है तो तुम सीधे डांगके किनारेकी ओर बढ़े जा रहे हो। परन्तु अभी भी सत्यानाशसे बच जाना बहुत ही सहज है। एक बालककी तरह हो जाओ, अपने-आपको भगवती माताके अर्पण कर दो, उनकी गोदमें रहो, फिर तुम्हारे लिये कोई खतरा नहीं रह जायगा।

इसका यह अर्थ नहीं कि तुमको दूसरी-दूसरी कठिनाइयोंका सामना करना ही नहीं पड़ेगा अथवा यह कि तुम्हें किन्हीं विघ्न-बाधाओंसे युद्ध करना और उनपर विजय प्राप्त करना ही नहीं होगा। समर्पणका अर्थ यह नहीं कि साधनामें सतत, अव्याहत और सरल प्रगतिके लिये कोई परवाना मिल गया। इसका कारण यह है कि तुम्हारी सत्ता अभी-तक एक नहीं हुई है न तुम्हारा समर्पण ही अभी अनन्य और पूर्ण हुआ

है। आरम्भमें तुम्हारा केवल एक भाग ही समर्पण करता है; और आज एक भाग तो कल दूसरा भाग। योग-साधना करनेका सारा प्रयोजन ही यह है कि अपनी सत्ताके समस्त बिखरे हुए भागोंको एकत्र करके उन्हें एक अविभाजित एकतामें ढाल देना। जबतक यह नहीं हो जाता तबतक कठिनाइयोंसे—उदाहरणके लिये, संदेह, उदासी या दुविधा जैसी कठिनाइयोंसे तुम्हारा पिंड नहीं छूट सकता। सारा जगत् विषसे भरा पड़ा है और प्रत्येक सांसके साथ तुम इसे पी रहे हो। यदि तुम किसी अवांछनीय मनुष्यके साथ थोड़ीसी बातचीत भी करो अथवा इस प्रकारका मनुष्य यदि तुम्हारी बगलसे होकर निकल भी जाय तो यह सम्भव है कि तुम उसके संक्रामक दोषको ग्रहण कर लो। जहां प्लेग हो उसके आस-पाससे होकर गुजर जाना उसकी जहरकी छूतको लगा लेनेके लिये पर्याप्त है; फिर चाहे इस जहरके वहां होनेका तुम्हें पता हो या न हो। तुम्हारी बहुत दिनोंकी कमाई कुछ क्षणोंमें नष्ट हो जा सकती है। जबतक तुम मानवताके घेरेमें हो, जबतक तुम साधारण जीवन व्यतीत करते हो, तबतक यदि तुम संसारी मनुष्योंसे हिलो-मिलो तो इसमें कोई खास चिंताकी बात नहीं है; किंतु यदि तुम दिव्य जीवनकी कामना रखते हो तो तुम्हें अपने संगी-साथी और अपनी परिस्थितिसे बहुत सावधान रहना पड़ेगा।

"अपनी सत्तामें एकता और एकसदृशता स्थापित करनेका उपाय क्या है ?"

अपने संकल्पको दृढ़ रखो। अपने उद्धत भागोंके साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा कि अनाज्ञाकारी बालकोंके साथ किया जाता है। उनपर लगातार और धैर्यपूर्वक क्रिया करते रहो, उन्हें उनकी भूल अवगत करा दो।

तुम्हारे अन्दर रहनेवाले भगवान्‌का मंदिर, तुम्हारा हृत्पुरुष, तुम्हारी चेतनाकी गहराईमें है। यही वह केंद्र है जिसके चारों ओर

तुम्हारी सत्ताके इन सब विभिन्न भागोंको, इन सब परस्पर-विरोधी गतियोंको जाकर एक हो जाना चाहिये। एक बार जहां तुमने हृत्पुरुष-की चेतनाको और उसकी अभीप्साको पा लिया तो फिर इन संदेहों और कठिनाइयोंको नष्ट कर दिया जा सकेगा। इस काममें कम या अधिक समय तो लगेगा, परन्तु अन्तमें तुम सफल होओगे यह निश्चित है। एक बार जब तुमने भगवान्‌की ओर मुंह किया है और यह कहा है कि "मैं आपका होना चाहता हूं," और भगवान्‌ने 'हां' कह दिया है, तो फिर यह समस्त जगत् तुमको उनसे अलग नहीं कर सकता। अन्दरसे जीवने जब समर्पण कर दिया है तब प्रधान कठिनाई दूर हो गयी है। बाह्य सत्ता तो एक जमी हुई पपड़ीकी तरह है। साधारण लोगोंमें यह पपड़ी इतनी कठोर और मोटी होती है कि इसके कारण वे अपने अन्दरके भगवान्‌से सचेतन नहीं हो पाते। परन्तु आन्तर पुरुषने यदि एक बार, क्षणभरके लिये ही सही, यह कह दिया है कि "मैं यहां हूं और मैं तुम्हारा हूं," तब मानो एक पुल बंध गया है और यह बाहरी पपड़ी धीरे-धीरे पतली-से-पतली पड़ती जायगी और एक दिन आयेगा जब कि दोनों भाग पूर्ण रूपसे जुड़ जायंगे और आन्तर तथा बाह्य दोनों एक हो जायंगे।

महत्त्वाकांक्षाके कारण अनेक योगियोंका विनाश हुआ है। यह नासूर बहुत दिनोंतक छिपा पड़ा रह सकता है। यह है, इसका जरा भी भान न रहते हुए ही अनेक मनुष्य योग करना आरम्भ कर देते हैं। परन्तु जब उनको शक्ति प्राप्त होती है, तब उनकी यह महत्त्वाकांक्षा भड़क उठती है, यह भड़कना और भी जोरदार इसलिये होता है कि आरम्भमें ही इसको निकालकर फेंक नहीं दिया गया होता।

एक योगीके बारे में, जिसने अद्‌भुत शक्ति प्राप्त की थी, एक कहानी सुनी जाती है। एक बार उसके शिष्योंने एक बहुत बड़े भोजमें उसको निमंत्रित किया। भोजन एक नीची पर बड़ीसी मेजपर परोसा गया। अब उन शिष्योंने अपने गुरुसे कहा कि 'आप अपनी शक्तिको किसी रूपमें दिखाइये।' वह यह जानता था कि ऐसा नहीं करना चाहिये,

किंतु महत्त्वाकांक्षाका बीज उसमें वर्त्तमान था और उसने सोचा कि 'मैं जो कुछ करने जा रहा हूं वह आखिरकार एक बहुत निर्दोष चीज है और इससे यह होगा कि इन लोगोंको यह विश्वास हो जायगा कि ऐसा कुछ किया जा सकता है और इससे इनको ईश्वरकी महानताकी शिक्षा मिलेगी।' इस प्रकार विचार करके उसने कहा कि 'मेजको हटा लो, केवल मेजको ही हटाओ और उसपर बिछी हुई चादर और समस्त थालियां ज्यों-की-त्यों पड़ी रहने दो।' यह सुनकर उसके शिष्य चिल्ला उठे, 'ओह! ऐसा कैसे किया जा सकता है, सब कुछ गिर जायगा।' परन्तु उसने आग्रह किया और शिष्योंने चादरके नीचेसे मेज हटा ली। अब तो आश्चर्यके मारे सब-के-सब हक्के-बक्केसे रह गये। चादर और उसके ऊपरका सारा सामान ठीक उसी तरह पड़ा रहा, जैसा मेज नीचे रहनेके समय था। परन्तु हठात् गुरु महाराज वहांसे कूदकर चीखते और चिल्लाते हुए भागे, उन्होंने कहा 'अब कभी मैं शिष्य नहीं बनाऊंगा, अब कभी नहीं! मुझपर वज्र गिरे! मैंने अपने भगवान्‌के साथ द्रोह किया है।' उसके हृदयमें आग जल रही थी, उसने स्वार्थके लिये भागवत शक्तियोंका उपयोग किया था।

शक्तियोंका प्रदर्शन सदा ही बुरा है। इसका यह अर्थ नहीं कि इनका कोई उपयोग ही नहीं होता। परन्तु जिस प्रकार वे प्राप्त होती हैं उसी प्रकार उनका उपयोग भी होना चाहिये। वे भगवान्‌के साथ योग होनेपर प्राप्त होती हैं और उनका उपयोग भी भगवान्‌के संकल्पद्वारा ही होना चाहिये, प्रदर्शनके लिये नहीं। यदि किसी अंधे मनुष्यसे तुम्हारी भेंट हो और तुममें यह शक्ति हो कि तुम उसको आंखें दे सको तो—यदि भगवान्‌की यह इच्छा है कि उसकी आंखें खुल जायं, तो तुम्हारा इतना कहना बस होगा कि "इसकी आंखें खुल जायं" और उसकी आंखें खुल जायंगी। परन्तु यदि तुम उसको केवल इसलिये आंखें देना चाहते हो कि तुम्हारी इच्छा उसको अच्छा कर देनेकी है, तो तुम अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाको संतुष्ट करनेके लिये ही शक्तिका उपयोग

करते हो। ऐसी अवस्थामें बहुधा यह होता है कि तुम केवल अपनी शक्तिको ही नहीं गंवा देते, बल्कि उस मनुष्यमें भी भारी क्षोभ उत्पन्न करते हो। यद्यपि बाहरसे देखनेमें ये दोनों तरीके एक समान हैं, किंतु एकमें तुम इसलिये कार्य करते हो कि वह भगवान्‌की इच्छा है और दूसरी-में इसलिये कि तुम अपने किसी वैयक्तिक भावसे प्रेरित हुए हो।

तुम यह पूछोगे कि इस बातको हम कैसे जानें कि हम जब कोई कार्य करते होते हैं तब उसमें कौनसा वह कार्य होता है जिसे हम भगवान्‌के संकल्पसे प्रेरित होकर करते हैं और कौनसा नहीं ? पर भगवान्‌के संकल्पको जानना कठिन नहीं होता। वह असंदिग्ध होता है। योग-मार्गमें बहुत आगे बढ़नेके पहले ही तुम इसको जाननेके लायक हो सकते हो। केवल आवश्यकता इस बातकी है कि तुम उनकी वाणीको ध्यान-पूर्वक सुन सको, उस सूक्ष्म वाणीको सुन सको जो यहां हृदयसे निकलती है। एक बार तुमको इसे सुननेका अभ्यास हो गया, तो फिर यदि तुम भागवत संकल्पके विरुद्ध कुछ भी करोगे तो तुम्हें एक प्रकारकी व्याकुल-ताका अनुभव होगा। और यदि तुम उस गलत मार्गपर हठपूर्वक चलते रहोगे तो तुम बहुत अधिक क्षुब्ध हो जाओगे। परन्तु यदि तुम अपनी इस व्याकुलताके कारणके रूपमें कोई बाह्य भौतिक बहाना ढूंढ़ निकालोगे और गलती करते ही जाओगे, तो यह होगा कि तुम धीरे-धीरे, जाननेकी अपनी इस शक्तिको गंवा दोगे और अंतमें तुम्हारी यह दशा हो जायगी कि तुम नाना प्रकारकी भूलें करते जाओगे पर किसी तरहकी व्याकुलताका अनुभव न करोगे। परन्तु पहली ही बार, जरासे क्षोभके होते ही यदि तुम वहीं रुक जाओ और अपने अन्तरात्मासे प्रश्न करो कि इस "क्षोभका कारण क्या है" तो तुमको ठीक-ठीक उत्तर अवश्य मिलेगा और सब कुछ साफ-साफ दिखायी देने लगेगा। जरासी उदासी या साधारणसी व्या-कुलताका अनुभव होनेपर उसके लिये बाह्य भौतिक बहाने मत ढूंढ़ो। इसके कारणका पता लगानेके लिये जब तुम ठहरकर सोचते हो तब अपने हृदयको बिलकुल सरल और सच्चा रखो। आरम्भमें तुम्हारा मन ऐसी सुन्दर-सुन्दर बातें गढ़ेगा जो जीको जंच जानेवाली होंगी। उन्हें

स्वीकार मत करो, बल्कि उनके परे जाकर देखो और पूछो कि "यह जो गति हो रही है उसके मूलमें क्या है ? मैं इस प्रकार क्यों कर रहा हूं?" अन्तमें एक छोटीसी लहरको, अपने भावकी कुछ गलती या किसी वक्रता-को—जिसके कारण यह कष्ट और क्षोभ हो रहा है—एक कोनेमें छिपी हुई पाओगे।

महत्त्वाकांक्षाका एक अत्यन्त सामान्य रूप है मानव-जातिकी सेवा करनेका विचार। इस प्रकारकी सेवा या कार्यके प्रति किसी भी प्रकारकी आसक्ति होना, व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाका चिह्न है। जो गुरु यह समझता हो कि वह मानव-जातिको किसी महान् सत्यकी शिक्षा देनेके लिये आया है और जो बहुतसे शिष्य चाहता हो तथा शिष्योंके चले जानेपर बेचैनी अनुभव करता हो अथवा जो कोई भी सामने आये उस-पर अपना प्रभाव जमाकर उसे अपना शिष्य बना लेनेकी चेष्टा करता हो, तो यह स्पष्ट है कि वह अपनी महत्त्वाकांक्षाका अनुसरण करनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा है। यदि तुम भगवान्के आदेशका अनुसरण करना चाहते हो, तो तुम्हें जो कोई भी काम मिले—चाहे वह बहुत भारी काम ही क्यों न हो—उसको ग्रहण करनेके लिये तथा दूसरे ही दिन उस कामको उसी शांतिके साथ, जिसके साथ तुमने उसे ग्रहण किया था—और जरा भी यह न समझते हुए कि इसमें तुमपर कोई उत्तर-दायित्व है—छोड़ देनेके लिये तैयार रहना चाहिये। किसी पदार्थ या किसी विशेष प्रकारके जीवनमें तुम्हें कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिये। तुम्हें सर्वथा स्वतंत्र हो जाना चाहिये। यदि तुम सच्ची यौगिक स्थिति-में रहना चाहते हो तो तुममें यह शक्ति होनी चाहिये कि भगवान्की ओरसे जो कुछ भी आये उसको तुम स्वीकार कर सको और उसको सरलताके साथ तथा बिना किसी दुःखके छोड़ भी सको। 'मैं कुछ नहीं चाहता' ऐसा कहनेवाला एक वैरागी और 'यह वस्तु मुझे चाहिये,' ऐसा कहनेवाला एक संसारी मनुष्य—इन दोनोंकी मनोवृत्ति एक ही है। संभव है कि वैरागी अपने त्यागके भावमें उतना ही आसक्त हो जितना कि संसारी अपनी संपत्तिके स्वामित्वके भावमें।

तुम्हें उन सभी वस्तुओंको—और केवल उन्हीं वस्तुओंको—स्वीकार करना चाहिये जो भगवान्‌के यहांसे आती हैं। क्योंकि वस्तुएं तुम्हारी छिपी हुई इच्छाओंके फलस्वरूप भी आ सकती हैं। इच्छाएं अवचेतनामें कार्य करती हैं और तुम्हारे पास ऐसी वस्तुओंको ले आती हैं जिन्हें तुम चाहे इस रूपमें न पहचान सको, पर वे भगवान्‌के यहांसे नहीं बल्कि परदेके अन्दर जो इच्छाएं छिपी पड़ी हैं, वहांसे आयी हुई होती हैं।

जब कोई चीज भगवान्‌के यहांसे आती है तो उसको तुम सहज ही जान सकते हो। उस समय तुम अपनेको स्वतंत्र अनुभव करते हो, अनुद्विग्न और स्वस्थ पाते हो, शान्तिकी अवस्थामें होते हो। परन्तु किसी चीजके मिलनेपर यदि तुम उसपर टूट पड़ते हो और मारे खुशीके चिल्ला उठते हो कि "आखिरकार यह मुझे मिली" तो तुमको निश्चयपूर्वक यह समझ लेना चाहिये कि वह चीज भगवान्‌के यहांसे नहीं आयी है। भगवान्‌के साथ योग और सम्मिलनके लिये प्रधान शर्त है समचित्तता।

"क्या भगवान् कभी-कभी हमारी इच्छित वस्तुको नहीं देते?"

अवश्य। एक नौजवान आदमी योग करना चाहता था। परन्तु उसका पिता नीच और क्रूर था, वह उसको बहुत कष्ट देता और उसको योग-साधना करनेसे रोकनेकी चेष्टा करता था। उस नौजवानकी तीव्र इच्छा हुई कि वह अपने पिताके हस्तक्षेपसे मुक्त हो जाय। शीघ्र ही उसका पिता बीमार पड़ा, उसका रोग असाध्य हो गया और वह मरनेके समीप पहुंच गया। अब उस युवककी प्रकृतिका दूसरा भाग जाग्रत हुआ और वह इस दुर्भाग्यको कोसता हुआ विलाप करने लगा "आह, मेरे पिताजी इतने बीमार हो गये! यह बड़े दुःखकी बात है। अरे, मैं क्या करूं?" उसका पिता अच्छा हो गया। युवकको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने एक बार फिर योगकी ओर मुंह किया। और उसका पिता भी दूने बलके साथ उसका विरोध करने और उसको सताने लगा। लड़का निराश होकर सिर धुनने और विलाप करने लगा कि

"अब मेरे पिताजी मेरे मार्गमें और भी अधिक बाधक हो रहे हैं।" सारी बात यह है कि हम इस बातको ठीक-ठीक जानें कि हम क्या चाहते हैं।

भगवान् सदा अपने साथ पूर्ण शान्ति और स्थिरता लाते हैं। यह सत्य है कि एक विशेष प्रकारके 'भक्त' साधारणतया एक दूसरे प्रकारका ही दृश्य उपस्थित करते हैं, ये कूदते-फांदते हैं, रोते हैं, हंसते और गाते हैं, और यह सब जैसा कि वे कहते हैं, वे भक्तिके आवेशमें करते हैं। परन्तु वास्तवमें इनका वास भगवान्में नहीं होता। ये अधिकांशत: प्राणमय जगत्में ही रहते हैं।

तुम्हारा कहना है कि रामकृष्ण परमहंस भी तो कभी-कभी भावावेशमें आकर उत्तेजित हो जाते थे और ऊपरकी ओर हाथ उठाकर गाते और नाचते हुए इधर-उधर फिरा करते थे? इस विषयका सत्य यह है कि तुम्हारी आंतर सत्तामें तो भक्तिकी गति पूर्ण और ठीक हो, यह हो सकता है, किंतु तुम्हारी बाह्य सत्ता यदि दुर्बल या असंस्कृत हो तो यह तुम्हें ऐसी शक्तियोंके सामने खोल देती है, उनके प्रति ग्रहणशील होनेकी एक ऐसी विशेष अवस्थामें ले आती है, जो तुम्हें भावावेशकी तीव्र उत्तेजना भर देती हैं। जहां बाह्य सत्ता आंतर पुरुषका प्रतिरोध करती है अथवा समस्त आनन्दको धारण नहीं कर सकती, वहां ही भक्तिकी अभिव्यक्तिमें इस प्रकारकी गड़बड़ी या अराजकता होती है। तुम्हारा शरीर और तुम्हारी स्नायुएं बलवान् होनी चाहिये। तुम्हारी बाह्य सत्तामें समभावका सुदृढ़ आधार स्थापित होना चाहिये। यदि इस आधारकी स्थापना हो जाय तो चाहे, भावावेशकी सारी सृष्टि तुम्हारे अन्दर डोलती हो तो भी तुम उसको शान्तिपूर्वक धारण किये रहोगे और कोलाहल मचाकर उसको बाहर निकालनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसका यह अर्थ नहीं कि तुम अपने भावावेशोंको प्रकट ही नहीं कर सकोगे, बल्कि यह कि तब तुम इसका प्रकाशन एक सुंदर और सामञ्जस्यपूर्ण रीतिसे करोगे। रोना, चिल्लाना और नाचते फिरना सदा ही किसी दुर्बलताका सूचक है, फिर वह दुर्बलता चाहे प्राणकी हो, मनकी हो या भौतिक प्रकृतिकी हो, कारण इन तीनों भूमिकाओंपर जो कुछ गतिविधि

होती है वह आत्मसंतुष्टिके लिये होती है। जो कोई हंसता कूदता या चिल्लाता है उसको ऐसा भान होता है कि जो कुछ भी कारण क्यों न हो पर उसकी वह उत्तेजना एक अत्यन्त असाधारण प्रकारकी है और उसकी प्राण-प्रकृति इसमें बड़ा सुख मानती है।

यदि भागवत अवतरणके दबावको तुम्हें सहन करना है तो तुम्हें अत्यन्त बलवान् और शक्तिशाली होना चाहिये, नहीं तो तुम चूर-चूर हो जाओगे। कुछ लोग कहते हैं कि "भगवान् अभीतक क्यों नहीं आये?" अरे, अभी तुम तैयार नहीं हो। इस आनन्द-सागरकी एक बूंदको पाकर ही तुम नाचने, गाने और चिल्लाने लगते हो तो यदि समूचा सागर ही तुममें उतर आये तो तुम्हारी क्या दशा होगी?

इसीलिये जिनके मन, प्राण और शरीरमें सुदृढ़, बलवान् और विशाल आधारकी स्थापना नहीं हुई है, उन्हें हम कहते हैं कि "मत खींचो" अर्थात् भागवत शक्तियोंको अपने अन्दर खींच लानेकी चेष्टा मत करो, बल्कि स्थिरता और शान्तिपूर्वक प्रतीक्षा करो। कारण ये लोग इस अवतरणको संभाल नहीं सकेंगे। परन्तु जिन लोगोंके आधारमें इस आवश्यक नींवकी स्थापना हो चुकी है, उन्हें हम ठीक इसके विपरीत कहते हैं कि 'अभीप्सा करो और खींचो', कारण ये लोग अवतरणको ग्रहण करनेमें समर्थ होंगे और भागवत शक्तियोंके इस अवतरणसे विचलित नहीं होंगे।

"ऐसा क्यों देखनेमें आता है कि भगवान्की ओर मुंह करनेवाले कुछ लोगोंके साथ ऐसा होता है कि उनके प्रत्येक स्थूल सहारेको या उन सभी वस्तुओंको उनसे छीन लिया जाता है, जिनको वे बहुत अधिक चाहते हैं? और यदि वे किसीपर प्रेम करते हैं तो उसको भी उनसे अलग कर दिया जाता है?"

ऐसी घटना सबके साथ नहीं घटती, यह केवल उन्हींके साथ होता है जिनकी पुकार होती है।

आध्यात्मिक जीवनके सम्बन्धमें पाश्चात्य और पौरस्त्य लोगोंमें जो कुछ भी भेद है वह उनके आंतर पुरुष और आंतर प्रकृतिमें नहीं है, कारण ये तो अविकारी और अविचल हैं, किंतु वह है मानसिक अभ्यासोंमें, बाहरी प्रकाशन और प्रतिपादनके तरीकोंमें, जो कि शिक्षा, परिस्थिति तथा अन्यान्य बाह्य अवस्थाओंके परिणामभूत होते हैं। सभी लोग–वे चाहे पाश्चात्य हों या पौरस्त्य–गभीर अनुभव एक ही रूपमें करते हैं, पर उनका जो विचार करनेका तरीका है केवल उसीमें भांति-भांतिके हो जाते हैं। उदाहरणके लिये सच्चाई एक ऐसा गुण है, जो सभी देशोंमें एक समान है। जो सच्चे हैं, वे चाहे किसी राष्ट्रके क्यों न हों, एक ही रूपमें सच्चे हैं। केवल सच्चाईके जो बाह्य रूप हैं वे ही बदलते हैं। भिन्न-भिन्न जातियोंमें मन भिन्न-भिन्न रूपसे काम करता है, किंतु हृदय सर्वत्र समान है; हृदय अधिक सत्य वस्तु है, भेद तो बाह्य और ऊपरी भागोंसे सम्बन्ध रखते हैं। जैसे ही तुम हृदयकी पर्याप्त गहराईमें उतरते हो वैसे ही तुम किसी ऐसी वस्तुसे मिलते हो जो सबमें एक है। सभी भगवान्‌में जाकर मिल जाते हैं। भौतिक संसारमें सूर्य भगवान्‌का प्रतीक है। बादलोंके कारण सूर्यके बाह्य रूपमें फेर-फार हो सकता है, किंतु जैसे ही बादल उड़ जाते हैं वैसे ही तुम देखते हो कि सदा और सर्वत्र वही एक सूर्य है।

यदि तुम किसीके साथ एकरस अनुभव नहीं कर सकते हो तो इसका यह अर्थ है कि तुम अभी अपने अनुभवमें पर्याप्त गहराईतक नहीं पहुंचे हो।

३

"जनसाधारणकी यह धारणा है कि साधनामें सूक्ष्म भूमिकाओं-के दृश्योंका दिखायी देना, किसी उच्च आध्यात्मिकताका चिह्न है। क्या यह बात सच है?"

नहीं, यह कोई जरूरी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त इन दृश्योंका दीखना एक बात है, किंतु जो कुछ देखा है उसको समझना और उसका ठीक अर्थ लगाना, बिलकुल दूसरी बात है तथा और भी कठिन है। साधारणतया, जिन लोगोंको इस प्रकारके दृश्य दिखायी देते हैं वे धोखा खा जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपनी ही इच्छाओं, आशाओं और धारणाओंके अनुसार इनका अर्थ लगाते या इनकी व्याख्या करते हैं। और फिर कई भिन्न-भिन्न प्रकारकी भूमिकाएं हैं, जहां तुम्हें ये दृश्य दिखायी दे सकते हैं। ये मानसिक भूमिकापर दिखायी देते हैं, प्राणकी भूमिकापर दिखायी देते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो एक ऐसी भूमिकापर दिखायी देते हैं जो इस स्थूल-भौतिक जगत्के अति समीप है। और ये तीसरी श्रेणीके दृश्य इस प्रकारकी आकृतियों और प्रतीकोंमें प्रकट होते हैं जो बिलकुल स्थूल-भौतिक दिखायी देते हैं; क्योंकि ये अत्यन्त स्पष्ट, यथार्थ और स्पृश्य होते हैं। और यदि तुम इनका अर्थ लगाना जान जाओ तो तुम्हें मनुष्योंकी अवस्थाओं और उनकी आंतरिक स्थितिके बिलकुल ठीक-ठीक निर्देश मिल सकते हैं।

एक उदाहरण देकर समझाना अच्छा होगा। यह एक दृश्यदर्शन (vision) है जो सचमुच एक आदमीको हुआ था। उसने देखा

कि सूर्यके प्रकाशसे आलोकित एक सड़क है जो चढ़ाईपर है और एक खड़े पर्वतकी चोटीकी ओर जा रही है। इस सड़कपर एक बड़ा भारी रथ चल रहा है, जिसको छः मजबूत घोड़े बड़ी कठिनाईसे धीरे-धीरे खींच रहे हैं। रथ मंदगतिसे पर लगातार आगे बढ़ रहा है। इतनेमें एक आदमी आता है, इस परिस्थितिका अवलोकन करता है, वह रथके पीछे चला जाता है और उसको पीछेसे ठेलने लगता है अथवा उसको ठेलकर पहाड़पर पहुंचा देनेकी चेष्टा करता है। अब एक समझदार आदमी आता है और उससे कहता है कि "भले आदमी, तुम क्यों व्यर्थ परिश्रम कर रहे हो? क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हारी इस मेहनतका कोई फल होगा? तुम्हारे लिये यह असंभव कार्य है। इसको करनेमें घोड़ोंको भी कठिनाई हो रही है।"

अब, इस दृश्य-दर्शनका अर्थ समझनेकी चाबी छः घोड़ोंके रूपकमें है। घोड़े शक्तिके प्रतीक हैं और छः संख्या दिव्य सृष्टिका चिह्न है; अतः छः घोड़ोंका अर्थ हुआ दिव्य सृष्टिकी शक्तियां। रथ आत्म-साक्षात्कारका, जिस वस्तुको उपलब्ध करना है, प्राप्त करना है, चोटीतक पहुंचाना है, उस ऊंचाईतक पहुंचाना है जहां कि दिव्य प्रकाशका निवास है, उसका प्रतीक है। यद्यपि ये सृजन करनेवाली शक्तियां दिव्य हैं, किंतु इस आत्मप्राप्तिको पूर्ण करनेका कार्य इनके लिये भी कष्टसाध्य है; कारण इनको महान् विरोधका सामना और प्रकृतिके अधोगामी आकर्षणके विरुद्ध युद्ध करना पड़ता है। अब बेचारा मानव-प्राणी आता है, जो अपने अभिमान और अज्ञानसे ग्रस्त है, जिसके पास मानसिक शक्तियोंकी जरासी संपत्ति है, और वह समझता है कि वह भी कुछ है और कुछ कर सकता है। उसके लिये तो सबसे उत्तम काम यह है कि वह रथमें जाकर आरामसे बैठ जाय और घोड़ोंके कार्यमें अपनी अनुमति देता रहे।

स्वप्न बिलकुल दूसरी ही चीज हैं। इनकी व्याख्या करना अधिक कठिन है, क्योंकि हरेक व्यक्तिके लिये उसकी अपनी एक विशेष प्रकारकी कल्पना-मूर्त्तियोंका स्वप्न-जगत् होता है। अवश्य ही ऐसे

स्वप्न भी होते हैं जिनका कुछ विशेष अर्थ नहीं होता। इस श्रेणीके अंतर्गत वे स्वप्न आते हैं जो चेतनाके अत्यन्त ऊपरी और भौतिक स्तरसे सम्बन्ध रखते हैं और वे जो इधर-उधरके विचारों, आकस्मिक संस्कारों, यंत्रवत् होनेवाली प्रतिक्रियाओं अथवा प्रतिघातजनित क्रियाओंके फल-स्वरूप होते हैं। इनका कोई बंधा हुआ या संगठित रूप, आकार और अर्थ नहीं होता। ये बहुत ही कम याद रहते और चेतनापर अपना कोई चिह्न भी प्रायः नहीं छोड़ जाते। परन्तु वे स्वप्न भी जिनका जन्म किसी अधिक गहरे स्तरसे होता है, प्रायः अस्पष्ट ही होते हैं, क्योंकि वे विशेष रूपसे व्यक्तिगत होते हैं, यह इस अर्थमें कि इन स्वप्नोंकी बनावट प्रायः पूर्णतया उन व्यक्तियोंके अपने निजी अनुभवों और स्वभावविशेष-पर निर्भर करती है। स्वप्न ही नहीं दृश्य भी ऐसे प्रतीकोंके बने हुए होते हैं जिनका विश्वव्यापी एक ही अर्थ नहीं होता। ये प्रतीक भिन्न-भिन्न जाति, परंपरा और धर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। हो सकता है कि कोई प्रतीक विशेष रूपसें ईसाई धर्मका हो, दूसरा विशेष रूपसे हिंदूधर्मका, तीसरा सामान्य रूपसे पौरस्त्य लोगोंका हो और चौथा सामान्य रूपसे पाश्चात्य लोगोंका। परन्तु स्वप्न तो एकदम व्यक्तिगत होते हैं, वे दैनिक घटनाओं और संस्कारोंपर निर्भर करते हैं। किसी मनुष्यके लियं किसी दूसरे मनुष्यके स्वप्नका आशय बताना या अर्थ लगाना अत्यंत कठिन है। प्रत्येक मनुष्य एक-दूसरेके लिये बंद घेरेके समान है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने स्वप्नोंका अध्ययन कर सकता है, उनका मतलब खोल सकता और उनके अर्थका पता लगा सकता है।

अब स्वप्नों और स्वप्नलोकके सम्बन्धमें कैसे बरतना चाहिये इसपर विचार करें। पहले तो तुमको सचेतन, अर्थात् अपने स्वप्नोंसे सचेतन होना चाहिये। अपने जाग्रत् कालकी घटनाओं और इन स्वप्नोंमें जो सम्बन्ध है उसका निरीक्षण करना चाहिये। यदि तुम्हें रात्रिकालकी अपनी अवस्था याद हो तो बहुधा तुमको इस बातका पता लगेगा कि तुम्हारी दिनकी अवस्थाका कारण तुम्हारी रात्रिकी अवस्थामें है।

निद्राकी अवस्थामें तुम्हारी मनोमय, प्राणमय या अन्य भूमिकापर कुछ-न-कुछ क्रिया सदा होती रहती है। वहां जो कुछ घटनाएं घटती हैं वे तुम्हारी जाग्रत् चेतनापर शासन करती हैं। उदाहरणार्थ, कुछ साधक सिद्धि प्राप्त करनेके लिये बहुत ही आतुर होते हैं और वे दिनके समय बहुत अधिक प्रयत्न करते हैं। वे सो जाते हैं और जब वे दूसरे दिन उठते हैं तो पहले दिनके प्रयत्नके फलस्वरूप उनको जो कुछ लाभ हुआ था उसका उन्हें कहीं पता भी नहीं मिलता; उन्हें एक बार फिरसे उसी भूमिको पार करना पड़ता है। इसका यह अर्थ है कि उनका वह प्रयत्न और उससे जो कुछ प्राप्त हुआ था वह सत्ताके अधिक ऊपरी और जाग्रत् भागोंसे ही संबंध रखता था और सत्ताके जो गभीरतर और सुप्त भाग हैं वे उससे अस्पृष्ट ही रहे। जब तुम सोये तब तुम इन अचेतन भागों-के पंजेमें पड़ गये, ये खुल पड़े और तुमने सचेतन कालमें कठिन परिश्रम करके जो कुछ कमाया था उसको निगल गये।

सचेतन होओ! न केवल दिन, बल्कि रात्रिकालके जीवनसे भी सचेतन होओ। पहले तुमको सचेतनता प्राप्त करनी है, फिर वशित्व। तुममेंसे जिनको अपने स्वप्न याद रहते हैं उनको यह अनुभव हुआ होगा कि स्वप्नके समय भी उनको इस बातका ज्ञान था कि यह स्वप्न है, वे यह जानते थे कि यह एक ऐसा अनुभव है जिसका स्थूल-भौतिक जगत्से कोई संबंध नहीं। एक बार जहां तुमको यह ज्ञान हुआ कि वहां भी—स्वप्न-जगत्में भी—तुम उसी प्रकार कार्य कर सकते हो जिस प्रकार कि तुम स्थूल जगत्में करते हो, तुम स्वप्नके समय भी अपने स-चेतन संकल्पका प्रयोग कर सकते हो और अपने स्वप्नानुभवकी समस्त गतिविधिको ही परिवर्तित कर सकते हो।

और जैसे-जैसे तुम अधिकाधिक सचेतन होते जाओगे वैसे-वैसे तुम रात्रिमें भी अपनी सत्तापर उतना ही वशित्व रखना आरंभ कर दोगे जितना तुम दिनमें रखते हो, हो सकता है कि उससे भी अधिक। क्योंकि रातमें तुम अपने शरीरकी यांत्रिकताकी गुलामीसे मुक्त रहते हो। शारीरिक चेतनाके व्यापारोंपर वशित्व रखना अधिक कठिन

है, कारण ये मनोमय और प्राणमय व्यापारोंकी अपेक्षा अधिक कठोर होते हैं और परिवर्तनके लिये अपेक्षया कम राजी होते हैं।

रात्रिमें मन और प्राण–विशेषतः प्राण–बहुत अधिक क्रियाशील रहते हैं। दिनमें उनपर एक नियंत्रण रहता है, कारण भौतिक चेतना उनके स्वतंत्र खेल और अभिव्यक्तिको दबाये रहती है। परन्तु निद्राके समय यह नियंत्रण हट जाता है और वे अपनी स्वाभाविक और स्वतंत्र गतियोंके साथ बाहर निकल पड़ते हैं।

"स्वप्नरहित निद्राका क्या स्वरूप है ?"

साधारणतया तुम जिसको स्वप्नरहित निद्रा कहते हो वह इन दोमेंसे एक प्रकारकी होती है। (१) या तो स्वप्नमें तुमने जो कुछ देखा वह तुम्हें याद नहीं रहता; (२) या तुम ऐसी नितांत अचेतनामें जा गिरते हो जो लगभग मृत्यु ही होती है, मृत्युका एक स्वाद होता है। परन्तु एक ऐसी निद्रा भी संभव है जिसमें तुम्हारी सत्ताके प्रत्येक भागमें परिपूर्ण नीरवता, निश्चलता और शांति छा जाती है और तुम्हारी चेतना सच्चिदानन्दमें लीन हो जाती है। इस अवस्थाको निद्रा कहना ही नहीं चाहिये, कारण यह अत्यन्त सचेतन अवस्था होती है। इस अवस्थामें तुम कुछ क्षण रह सकते हो, किंतु इन थोड़ेसे क्षणोंमें तुम्हें घंटों ली हुई साधारण निद्राकी अपेक्षा अधिक आराम और ताजगी मिल जाती है। यह अवस्था आप-ही-आप नहीं हो सकती, इसके लिये एक लम्बी साधनाकी आवश्यकता होती है।

"स्वप्नोंमें कुछ ऐसे लोगोंसे भेंट और जान-पहचान हो जाती है, जिनसे बाह्य जगत्‌में हमारी भेंट और जान-पहचान पीछे होती है, यह क्या बात है ?"

मनोमय या प्राणमय लोकमें एक दूसरेके साथ मेल होनेसे कुछ लोग

एक दूसरेके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। इन लोकोंमें बहुधा ऐसे लोगों-से भेंट होती है जिनसे पृथ्वीपर अभी मुलाकात नहीं हुई है। ऐसे लोगोंका वहां इकट्ठा होना, परस्पर बातचीत करना और पृथ्वीपर जितने प्रकारके संबंध होते हैं उन सभी संबंधोंको रखना संभव है। इन संबंधोंको कुछ लोग जानते हैं और कुछ नहीं जानते। कुछ, और अधि-कांश लोग ऐसे ही हैं, जो आंतर सत्ता और आंतर आदान-प्रदानको नहीं जानते होते, फिर भी यह होता है कि जब बाह्य जगत्में किसी ऐसे नवीन व्यक्तिका चेहरा उन्हें दिखायी देता है तब वह उन्हें किसी कारण अत्यन्त परिचित और सर्वथा जाना पहचाना हुआ बोध होता है।

"क्या झूठे दृश्य नहीं दिखायी देते?"

ऐसे दृश्य होते हैं जिनका बाह्य रूप झूठा होता है। उदाहरणार्थ, सैकड़ों क्या हजारों आदमी ऐसे मिलेंगे जो कहते हैं कि उन्होंने ईसा-मसीहको देखा है। इस बड़ीसी संख्यामेंसे जिन्होंने वास्तवमें उनको देखा है ऐसे लोग शायद एक दर्जन भी न निकलें। और इन थोड़ेसे लोगोंने भी जो कुछ देखा है उसके संबंधमें बहुत कुछ कहनेकी गुंजायश है। बाकी लोगोंने जो कुछ देखा है, वह हो सकता है कि ईसामसीहकी कोई विभूति हो, अथवा उनका अपना ही कोई विचार हो, या कोई ऐसी प्रतिमा हो जिसको उनके मनने याद कर रखा हो। इनमें कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिनकी ईसामसीहमें दृढ़ श्रद्धा होती है और उन्हें किसी ऐसी शक्ति या सत्ताका या किसी स्मृत मूर्तिका दर्शन हुआ होता है जो अत्यन्त तेजोमय होती है और उनके हृदयपर गहरा असर डालती है। उन्होंने कुछ ऐसी चीज देखी है जिसे वे दूसरे जगत्की और प्राकृत जगत्-से परेकी अनुभव करते हैं और इस दृश्य-दर्शनने उनके अन्दर भय, संभ्रम या हर्षका भावावेश उत्पन्न कर दिया होता है और चूंकि उनकी श्रद्धा ईसामसीहमें होती है इसलिये उनके ध्यानमें और कोई दूसरी चीज नहीं आती और वे समझते हैं कि उन्होंने ईसामसीहको ही देखा है।

परन्तु वही दर्शन या अनुभव यदि किसी हिंदू, मुसलमान या अन्य धर्मावलम्बीको हो तो उसका नाम और रूप कुछ और ही हो जायगा। जिसका दर्शन या अनुभव हुआ वह वस्तु मूलतः एक ही होनेपर भी उसको ग्रहण करनेवाले मनकी बनावटकी भिन्नताके अनुसार उसका रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकारका बन जाता है। केवल वे ही लोग, जो इन विश्वासों, श्रद्धाओं और धर्माख्यानों और परम्पराओंके ऊपर उठ चुके हैं, यह कह सकते हैं कि वास्तवमें उन्होंने क्या देखा; पर ऐसे लोग बहुत कम हैं, इने-गिने ही हैं। तुम्हें समस्त मानसिक रचनाओंसे मुक्त होना होगा और जो कुछ भी केवल स्थानीय या सामयिक है उससे अपने-आपको दूर कर लेना होगा, ऐसा होनेपर ही तुम इन दृश्योंका सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकोगे।

आध्यात्मिक अनुभूतिका अर्थ है अपने अन्दर (अथवा अपने बाहर, जो उस क्षेत्रमें एक ही बात है) भगवान्का संस्पर्श। और यह अनुभूति सर्वत्र, सब देशोंमें, सब जातिके लोगोंमें, यहांतक कि समस्त युगोंमें भी एक ही प्रकारकी होती है। भगवान्से जब तुम्हारी भेंट होती है तो वह सर्वदा और सर्वत्र एक ही प्रकारसे होती है। फिर भी उनके भिन्न-भिन्न रूप दिखायी देनेका कारण यह होता है कि जो कुछ अनुभूत होता है और उसको जो रूप दिया जाता है इन दोनोंके बीच एक बड़ी भारी खाई होती है। आध्यात्मिक अनुभूति सदा आंतर चेतनामें होती है और जैसे ही तुमको कोई आध्यात्मिक अनुभूति होती है, वैसे ही वह तुम्हारी बाह्य चेतनामें प्रतिबिंबित हो जाती है और तुम्हारी अपनी शिक्षा, श्रद्धा और मानसिक धारणाके अनुसार वहां उसकी किसी-न-किसी प्रकारकी व्याख्या हो जाती है। सत्य तो एक ही है, सद्वस्तु तो एक ही है, किंतु जिन रूपोंद्वारा उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है, वे अनेक हैं।

"जान आफ आर्कको जो दृश्य-दर्शन होते थे, वे किस कोटिके थे ?"

हम लोग जिसको देवोंका लोक कहते हैं (अथवा कैथलिक संप्रदाय-

वालोंके शब्दोंमें संतोंका लोक, यद्यपि ये दोनों लोक बिलकुल एक नहीं हैं) उस लोककी कुछ सत्ताओंके साथ जान आफ आर्कका स्पष्ट संबंध था। जिन सत्ताओंका उन्हें दर्शन होता था, उन्हें वे प्रधान-देवदूत कहा करती थीं। ये सत्ताएं उच्चतर मानस-लोक और अतिमानसलोक (विज्ञानमय लोक) के बीचमें जो लोक है, वहांकी थीं; यही वह लोक है जिसे श्रीअरविन्द अधिमानस-लोक कहते हैं। यह सृष्टिकर्त्ताओंका, रूप बनानेवालोंका लोक है।

जो दो सत्ताएं जान आफ आर्कको सतत दर्शन दिया करती और उनसे बातें किया करती थीं, वे यदि किसी हिंदूके सामने होतीं तो उनका कुछ और ही रूप होता, कारण जब कोई किसी सत्ताको देखता है, तब वह उनके रूपको अपने मनकी कल्पनाके अनुसार गढ़ लेता है। जो कुछ तुम देखते हो उसको तुम वही रूप दे देते हो जिसके दर्शनकी तुमको आशा होती है। यदि एक ही सत्ता एक ही समय किसी ऐसी मंडलीको दिखायी दे जहां क्रिस्तान, बौद्ध, हिंदू और शिंटो धर्मावलंबी सभी हों तो ये विभिन्न धर्मावलंबी उसको सर्वथा अलग-अलग नामोंसे पुकारेंगे। इनमेंसे हरेक व्यक्ति यह कहेगा कि इस सत्ताका स्वरूप इसके या उसके जैसा था, सभीकी राय एक दूसरेसे अलग होगी, यद्यपि सबके सामने एक ही सत्ता प्रकट हुई होगी। भारतवर्षमें तुम लोगोंको एक शक्तिका दर्शन होता है और इस शक्तिको तुम लोग भगवती माता (आद्या शक्ति) कहते हो। शक्तिके इसी दर्शनको कैथलिक संप्रदायवाले 'कुमारी मेरी' कहते हैं, जापानी क्वोनोन अर्थात् दयाकी देवी कहते हैं और दूसरे धर्मवाले किसी दूसरे ही नामसे पुकारते हैं। वह एक ही शक्ति है, एक ही सत्ता है, किंतु उसकी प्रतिमाएं भिन्न-भिन्न धर्मोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बन गयी हैं।

"समर्पणके मार्गमें शिक्षण या तपस्याका क्या स्थान है? यदि कोई समर्पण करता है तो क्या उसका काम तपस्याके बंधनमें पड़े बिना नहीं चल सकता? क्या तपस्या कभी-कभी बाधक नहीं होती?"

हो सकता है कि यह ठीक हो। परन्तु तपस्या या अपना विकास साधन करनेकी पद्धति और संकल्पपूर्वक कर्मके बीच एक भेद है। तपस्या दूसरी चीज है, मैं तो संकल्पपूर्वक कर्म करनेके सम्बन्धमें कह रही हूं। यदि तुम समर्पण करते हो तो तुम्हें प्रयास छोड़ देना होता है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम्हें संकल्पपूर्वक कर्म करना भी त्याग देना होता है। इसके विपरीत यदि तुम अपना संकल्प भगवान्के संकल्पको दे देते हो, तो तुम सिद्धिकी ओर तीव्र गतिसे चलने लगते हो। यह भी एक प्रकारका समर्पण ही है। तुमसे ऐसे किसी निष्क्रिय समर्पणकी अपेक्षा नहीं की जाती है कि तुम एक जड़ पत्थरकी तरह हो जाओ, बल्कि यह अपेक्षा की जाती है कि तुम अपने संकल्पको भगवान्के संकल्पके अधीन कर दो।

"परंतु जबतक भगवान्के साथ हमारा योग नहीं हो जाता, तबतक इस कामको कोई कैसे कर सकता है?"

संकल्प तो तुममें होता ही है, तो इस संकल्पको तुम भगवान्के अर्पण कर सकते हो। रात्रिकालमें सचेतन रहनेके उदाहरणको ही ले लो। यदि तुम निष्क्रिय समर्पणका भाव रखो, तो तुम कहोगे कि 'भगवान्की जब यह इच्छा होगी कि मैं सचेतन होऊं, तभी मैं सचेतन होऊंगा।' दूसरी ओर, यदि तुम अपने संकल्पको भगवान्के अर्पण करते हो, तो तुम संकल्पशक्तिका प्रयोग करना आरम्भ कर देते हो, तुम कहते हो कि 'मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊंगा।' तुम इस बातका संकल्प करते हो कि ऐसा होना चाहिये, तुम प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप बैठ नहीं जाते। अब इस क्रियामें समर्पणका भाव उस समय आ जाता है जब तुम यह भाव धारण करते हो और कहते हो कि 'मैं अपने संकल्पको भगवान्के अर्पण करता हूं, मेरी तीव्र इच्छा है कि मैं अपने रात्रिकालसे सचेतन होऊं, इस कामको करनेका ज्ञान मुझमें नहीं है, भगवान्का संकल्प मेरे लिये इस कामको पूरा करे।' तुम्हारे संकल्पको स्थिरता-

पूर्वक कार्य करते जाना चाहिये, किसी विशेष कार्यको पसंद करनेके तौरपर या किसी विशिष्ट उद्देश्यकी प्राप्तिकी मांग करनेके तौरपर नहीं, बल्कि एक तीव्र अभीप्साके रूपमें, जो अंतिम लक्ष्यकी प्राप्तिपर केंद्रित हो। यह पहली सीढ़ी है। यदि तुम सतर्क हो, यदि तुम्हारी दृष्टि सावधान है तो तुम्हें 'क्या करना चाहिये' इस बातकी प्रेरणा किसी-न-किसी रूपमें अवश्य मिल जायगी, और इस प्रेरणाके अनुसार तुम्हें तत्काल कार्य करने लग जाना चाहिये। हां, एक बात तुम्हें याद रखनी है और वह यह कि समर्पण करनेका अर्थ है, तुम्हारे कर्मोंका जो कुछ भी फल हो उसे स्वीकार करना, फिर चाहे वह तुम्हारी आशाके सर्वथा विपरीत ही क्यों न हो। दूसरी ओर, तुम्हारा समर्पण यदि निष्क्रिय है तो तुम कुछ नहीं करोगे, किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं करोगे, बल्कि मौजसे सो जाओगे और किसी चमत्कारकी प्रतीक्षा करोगे।

अब इस बातको जाननेके सम्बन्धमें कि तुम्हारी इच्छा या संकल्पका भगवान्‌के संकल्पके साथ मेल है या नहीं, तुमको ढूंढ़ना और देखना चाहिये कि इस प्रयत्नका तुमको कोई उत्तर मिलता है या नहीं, तुम अपनी इच्छाका समर्थन पाते हो या विरोध। मन, प्राण या शरीरके उत्तर, समर्थन या विरोधसे कुछ नहीं आता-जाता, इस बातको तुम्हें उससे पूछना चाहिये जो तुम्हारी गहराईमें, आंतर सत्तामें तुम्हारे हृदयमें वर्त्तमान है।

"क्या ध्यान करनेके लिये अधिकाधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है? क्या यह बात सच नहीं है कि जितनी अधिक देरतक कोई ध्यान करता है उतनी ही अधिक उसकी प्रगति होती है?"

ध्यान करनेमें कितने घंटे बिताये, यह आध्यात्मिक प्रगतिका कोई प्रमाण नहीं है। आध्यात्मिक प्रगतिका प्रमाण तो तब समझना चाहिये जब तुम्हारी यह अवस्था हो जाय कि ध्यान करनेके लिये तुमको किसी प्रकारका प्रयास ही न करना पड़े। तब तो ध्यानको रोकनेके लिये भले

ही प्रयास करनेकी आवश्यकता हो। तब ऐसी अवस्था हो जाती है कि ध्यानको रोकना कठिन हो जाता है; भगवान्‌के चिंतनको अटकाना, साधारण चेतनामें नीचे उतर आना कठिन हो जाता है। भगवान्‌में एकाग्रता जब तुम्हारे जीवनकी आवश्यकता बन जाय, जब तुम इसके बिना रह ही न सको, जब यह अवस्था स्वाभाविक रूपसे रात-दिन बनी रहे—फिर चाहे तुम किसी भी काममें क्यों न लगे होओ—तब यह समझना चाहिये कि निश्चित रूपसे तुम्हारी प्रगति हुई है, तुमने वास्तविक उन्नति की है। चाहे तुम ध्यान लगाकर बैठो या घूमो-फिरो और काम-काज करो पर जिस बातकी तुमसे अपेक्षा की जाती है वह है चेतना। यही एकमात्र आवश्यकता है—भगवान्‌का सदा सचेतन ज्ञान।

"परंतु ध्यानमें बैठना क्या एक अनिवार्य साधना नहीं है और क्या इससे भगवान्‌के साथ अधिक प्रगाढ़ और केंद्रित एकता नहीं होती ?"

यह हो सकता है। परन्तु कोरी साधना हमारा अभीष्ट नहीं है। हम जो कुछ चाहते हैं वह है प्रत्येक कर्मके करते समय, प्रत्येक क्षण, हमारी समस्त क्रियाओं और प्रत्येक गतिमें, हमारी चेतना भगवान्‌में केंद्रित रहे। यहां कुछ साधक ऐसे हैं जिनसे ध्यान करनेको कहा गया है, किंतु यहां ऐसे साधक भी हैं जिन्हें किसी प्रकारका कुछ भी ध्यान करनेको नहीं कहा गया। परन्तु भूलकर भी यह नहीं सोचना चाहिये कि ध्यान नहीं करनेवालोंकी प्रगति नहीं हो रही है। वे भी एक साधना करते हैं, किंतु वह दूसरे प्रकारकी साधना है। भक्तिभावके साथ और आत्मोत्सर्गके भावके साथ कर्म करना, कार्य करना—यह भी एक प्रकारकी आध्यात्मिक साधना ही है। अन्तिम उद्देश्य यह है कि केवल ध्यानमें ही नहीं, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें, जीवनकी प्रत्येक क्रियामें भगवान्‌के साथ सतत एकताका अनुभव किया जाय।

कुछ लोग ऐसे हैं जो जब वे ध्यानमें बैठे होते हैं तब एक ऐसी अवस्थामें

चले जाते हैं जिसको वे बहुत ही सुंदर और आनन्दमय समझते हैं। वे इस अवस्थामें आत्मसंतोषपूर्वक बैठे रहते हैं और जगत्को भूल जाते हैं; किंतु यदि उनके ध्यानमें कोई बाधा पहुंचती है तो वे उस अवस्थामेंसे क्षुब्ध और क्रुद्ध होकर निकलते हैं, क्योंकि उनके ध्यानको भंग किया गया है। यह किसी आध्यात्मिक प्रगति या साधनाका लक्षण नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस प्रकारका आचरण करते हैं और बोध करते-से दीखते हैं मानो उनका ध्यान करना भगवान्‌का कर्जा चुकानेके लिये हो। ये उन लोगोंकी तरह हैं जो सप्ताहमें एक बार गिरजाघर हो आते हैं और समझते हैं कि भगवान्‌का सारा पावना चुका दिया।

यदि तुमको ध्यानावस्थित होनेके लिये प्रयत्न करना पड़ता है तो आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करनेके योग्य बन जानेकी अवस्थासे अभी तुम बहुत दूर हो। जब ध्यानावस्थासे बाहर निकलनेके लिये तुम्हें प्रयत्न करनेकी आवश्यकता पड़े तब तुम्हारा ध्यान इस बातका संकेत हो सकता है कि आध्यात्मिक जीवनमें तुम्हारा प्रवेश हो चुका है।

हठयोग और राजयोग जैसी कुछ ऐसी साधनाएं भी हैं जिनका अभ्यास करते हुए भी यह हो सकता है कि साधकका आध्यात्मिक जीवनसे कुछ भी सम्बन्ध न हो। अधिक-से-अधिक हठयोगद्वारा शरीरपर और राजयोगद्वारा मनपर संयम हो जाता है। परन्तु आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश करनेका तो अर्थ है भगवान्‌में गोता लगाना, ठीक उसी तरह जैसे कोई समुद्रमें कूद पड़ता है। और यह भी एक आरम्भ ही है, अंत नहीं। कारण गोता लगानेके बाद फिर तुमको यह सीखना होता है कि भगवान्‌रूपी समुद्रमें निवास कैसे किया जाय। ऐसा करनेका क्या उपाय है? तुम्हें तो बस सीधे कूद पड़ना है और यह नहीं सोचना है कि 'मैं कहां गिरूंगा? मेरी क्या दशा होगी?' तुम्हारे मनकी यह झिझक ही है जो तुमको रोकती है। तुम्हें तो बस कूद ही जाना चाहिये। यदि तुम समुद्रमें गोता लगाना चाहते हो और साथ-ही-साथ यह सोचते हो कि 'आह, कहीं आस-पासमें यहां कोई पत्थर या चट्टान न हो!' तो तुम कभी भी गोता नहीं लगा सकते।

"परंतु समुद्र तो दिखायी देता है और इसलिये उसमें सीधे गोता लगाया जा सकता है, किंतु आध्यात्मिक जीवनमें गोता कैसे लगाया जाय ?"

अवश्य ही, जैसे तुम समुद्रको देखते हो और उसमें कूदनेसे पहले उसके विषयमें तुम्हें कुछ जानकारी होती है, उसी तरह भागवत सद्वस्तुकी भी कोई झांकी तुमको अवश्य ही मिल चुकी होगी। यह झांकी साधारणतया हृत्पुरुषकी जाग्रतिके रूपमें होती है। पर किसी-न-किसी प्रकारका साक्षात्कार तुमको अवश्य हुआ होना चाहिये—यदि गभीर हृत्पुरुषके अथवा संपूर्ण सत्ताके साक्षात्कारका संस्पर्श न भी हुआ हो तो कम-से-कम एक बलवान् मनोमय या प्राणमय सम्बन्ध अवश्य ही स्थापित हुआ होगा। अवश्य ही तुमने अपने अन्दर या अपने आस-पास भगवान्‌की उपस्थितिका स्पष्ट अनुभव किया होगा; भागवत जगत्‌में श्वास लेना क्या होता है इसका कुछ अनुभव तुमको हुआ होगा। और इसके विपरीत साधारण जगत्‌के दम घुटा देनेवाले श्वासका भी तुमको अनुभव हुआ ही होगा जो तुमको इस पीड़ादायक वातावरणसे बाहर निकल आनेका प्रयत्न करनेके लिये बाध्य कर रहा होगा। यदि यह हुआ है तो बस, अब तुम्हें भागवत सद्वस्तुमें निःशेषभावसे आश्रय ले लेना है और उसकी सहायता और संरक्षणमें रहना है—केवल उसीमें रहना है। अपने साधारण जीवनमें अभीतक जो कुछ तुमने आंशिक रूपमें अथवा अपनी सत्ताके कुछ भागोंमें, या किन्हीं विशेष समयों या अवसरोंपर किया होगा, उसीको अब तुम्हें पूर्ण रूपसे और सदाके लिये कर डालना है। यही वह गोता है जो तुम्हें लगाना है, और जबतक तुम यह गोता नहीं लगाते तबतक वर्षों योग क्यों न करते रहो, पर सच्चे आध्यात्मिक जीवनके सम्बन्धमें तुम कुछ भी न जान सकोगे। गोता सर्वांशतः और पूरा-पूरा लगाओ, ऐसा करते ही तुम इस बाह्य गोलमालसे मुक्त हो जाओगे और आध्यात्मिक जीवनका सच्चा अनुभव प्राप्त करोगे।

४

"यह कहा गया है कि योग-साधनामें उन्नति करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक हरेक वस्तुको, अपने जीवनमें वह छोटी-से-छोटी जो कोई भी चीज रखता या करता हो, उस सबको भगवान्-के अर्पण कर दे। इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?"

योगका अर्थ है भगवान्से एकता, और यह एकता होती है आत्मोत्सर्गद्वारा, आत्मसमर्पणद्वारा—इसका आधार है अपने-आपको भगवान्के प्रति उत्सर्ग कर देना। आरम्भमें इस उत्सर्गका प्रारंभ तुम एक साधारण रूपमें करते हो और समझते हो मानो सदाके लिये तुम्हारा यह काम पूरा हो गया। तुम कहते हो कि "मैं भगवान्का सेवक हूं, मेरा जीवन पूर्ण रूपसे भगवान्को दे दिया गया है, मेरी समस्त चेष्टाएं दिव्य जीवनकी प्राप्तिके लिये हैं।" परंतु यह तो केवल पहली सीढ़ी है; कारण केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। तुम्हारे संकल्प कर लेनेके बाद भी, तुम्हारे इस निश्चयके बाद भी कि तुम अपने समग्र जीवनको भगवान्के अर्पण कर दोगे, तुम्हारे लिये यह बाकी रह जाता है कि तुम इस बातको अपने जीवनमें प्रत्येक क्षण याद रखो और इसे अपने अस्तित्वके प्रत्येक ब्योरेमें चरितार्थ करो। प्रत्येक पदपर तुमको यह अनुभव होना चाहिये कि तुम भगवान्के हो, तुमको यह सतत अनुभूति होनी चाहिये कि जो कुछ भी तुम सोचते या करते हो, उसमें सर्वदा भागवत चेतना ही तुम्हारे द्वारा कार्य कर रही है। तुम्हारे पास अब ऐसी कोई चीज न रह जानी चाहिये जिसे तुम अपनी कह सको, जो कुछ भी तुम्हारे पास आये उसको

तुम्हें भगवान्‌के यहांसे आया हुआ अनुभव करना चाहिये और उसको तुम्हें उसके मूल मालिकके चरणोंमें भेंट कर देना चाहिये। इस अनुभूतिको जब तुम प्राप्त कर सकोगे तब तुम देखोगे कि अत्यन्त सामान्य-से-सामान्य बातें, जिनपर अभी तुम बहुत ध्यान नहीं देते या जिनकी अभी तुम परवा नहीं करते, वे भी अब अकिंचन या तुच्छ नहीं रह गयी हैं, वे अर्थपूर्ण हो गयी हैं और उन्होंने तुम्हारी दृष्टिके सामने दूरतक देख सकनेके लिये एक विशाल दिग्मंडलको खोल दिया है।

अपने सामान्य रूपसे किये हुए उत्सर्गको जीवनके प्रत्येक ब्योरेमें होनेवाले उत्सर्गोंकी अवस्थामें पहुंचा देनेके लिये तुम्हें जो कुछ करना है वह विधि यह है। भगवान्‌की अवस्थितिमें ही तुम्हारा निरंतर निवास हो; इस अनुभवमें निवास हो कि यह अवस्थिति ही तुम्हें परिचालित और तुम्हारे द्वारा होनेवाले प्रत्येक कर्मको कर रही है। अपनी समस्त चेष्टाओंको तुम इसीके प्रति उत्सर्ग करो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भावको ही नहीं, बल्कि अत्यन्त साधारण और बाह्य क्रियाओंको भी, उदाहरणार्थ, भोजन करनेको भी; जब तुम भोजन करते हो तब तुम्हें यह अनुभव करना चाहिये कि इस क्रियामें तुम्हारे द्वारा भगवान् ही आरोग रहे हैं। इस प्रकार जब तुम अपनी समस्त प्रवृत्तियोंको एक अखंड जीवनमें एकत्रित कर सकोगे, तब अभी जो तुममें भेद-भाव है उसके स्थानपर एक अखंड एकता स्थापित हो जायगी। तब यह अवस्था नहीं रहेगी कि तुम्हारी प्रकृतिका एक भाग तो भगवान्‌के अर्पित हो और बाकीके भाग अपनी साधारण वृत्तियोंमें पड़े हों, साधारण चीजोंमें लिप्त हों, बल्कि तब यह होगा कि तुम्हारे संपूर्ण जीवनको भगवान् अपने हाथमें ले लेंगे और तुम्हारी प्रकृतिका संपूर्ण रूपांतर क्रमशः साधित होता रहेगा।

पूर्णयोगकी साधनामें संपूर्ण जीवनका रूपांतर करना होगा, उसको दिव्य बनाना होगा। इस कामको पूरे ब्योरेके साथ करना होगा और यह देखना होगा कि कहीं कोई छोटी-से-छोटी चीज भी बाकी न रह जाय। इस साधनामें ऐसी कोई चीज नहीं है जो तुच्छ या उपेक्षणीय समझी जाय।

तुम यह नहीं कह सकते कि "जब म ध्यान करता हूं, दशनशास्त्रसंबंधी पुस्तकें पढ़ता हूं या इन वार्त्तालापोंको सुनता हूं तब तो मैं भागवत ज्योति-की ओर अपने-आपको खोलकर रखूंगा और उसका आवाहन करूंगा, किंतु जब मैं टहलने जाता हूं या किसी मित्रसे मिलता हूं तब यदि उसको बिलकुल भूल भी जाऊं तो चल सकता है।" इस भावको बनाये रखने-का तो यह अर्थ होगा कि तुम्हारा कभी भी रूपांतर न हो सकेगा और कभी भी तुम्हें भगवान्‌के साथ सच्ची एकता न प्राप्त होगी। सदा तुम्हारे दो भाग बने रहेंगे, अधिक-से-अधिक जो तुम्हें मिल सकेगा वह इस महत्तर जीवनकी कुछ झांकीमात्र होगी। इसका कारण यह है कि इस अवस्था-में यद्यपि ध्यानके समय तुम्हारी आंतर चेतनामें कतिपय अनुभूतियां और साक्षात्कार तुम्हें भले ही हों, पर तुम्हारा स्थूल शरीर और तुम्हारा बाह्य जीवन तो रूपांतरित हुए बिना यों ही पड़ा रह जायगा। जिस आंतर प्रकाशका शरीर और बाह्य जीवनपर कोई असर नहीं होता वह किसी विशेष उपयोगमें नहीं आता। कारण, इससे यह जगत् तो जैसा-का-तैसा ही रह जाता है। और यही है जो अभीतक लगातार होता आ रहा है। वे लोग भी जिन्हें अति महान् और शक्तिशाली उपलब्धि हुई थी जगत्‌से अलग हट गये, जिससे वे अपनी आंतर स्थिरता और शांतिमें अक्षुब्ध रूपसे निवास कर सके। इन लोगोंने जगत्‌को अपने ही मार्गपर चलते रहनेके लिये छोड़ दिया, परिणाम यह हुआ कि विश्वसत्ता-की इस भौतिक भूमिकापर दुःख और जड़ता, मृत्यु और अज्ञानका राज्य पूर्ववत् अबाध गतिसे जारी रहा। जो लोग इस प्रकार किनारा खींच लेते हैं उनके लिये इस उपद्रवसे त्राण पाना, इन कठिनाइयोंसे दूर भागना और दूसरे लोकमें अपने लिये एक सुखी अवस्थाका पा लेना भले ही सुख-कर हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि वे इस जगत् और जीवनको अमार्जित और अरूपांतरित अवस्थामें ही छोड़ जाते हैं; यही नहीं, बल्कि वे अपनी निजी बाह्य चेतनाको भी अपरिवर्तित अवस्थामें और अपने शरीरको सदाकी नाईं असंस्कृत अवस्थामें ही छोड़ देते हैं। ये लोग जब भौतिक जगत्‌में वापस लौटें तब यह संभव है कि इनकी दशा एक साधारण मनुष्य-

की अपेक्षा भी बुरी हो, कारण इन लोगोंने स्थूल वस्तुओंपर प्रभुता प्राप्त करनेकी शक्तिको गवां दिया होता है, अतएव यह संभव है कि भौतिक जीवनके साथ इनका व्यवहार बिलकुल बेढंगा हो और इस जीवनकी धारामें वे अपनेको असहाय बोध करें तथा उनका जीवन प्रत्येक गुजरी हुई शक्तिकी दयापर निर्भर करे।

इस प्रकारका आदर्श उनके लिये भले ही ठीक हो जो इसे चाहते हैं, किंतु हम लोगोंका योग यह नहीं है। कारण, हम चाहते हैं इस जगत्-पर तथा इसकी समस्त गतियोंपर भगवान्‌की विजय और यहां, इस पार्थिव जगत्‌में ही भगवान्‌की उपलब्धि। परंतु यदि हम चाहते हैं कि यहां भगवान्‌का राज्य हो तो जो कुछ भी हम हैं, जो कुछ भी हमारे पास है और जो कुछ भी हम यहां करते हैं, उस सबको हमें भगवान्‌को दे देना चाहिये। इस प्रकार सोचनेसे काम नहीं चलेगा कि अमुक बात गौण है अथवा बाह्य जीवन और उसकी आवश्यकताओंसे दिव्य जीवनका कोई संबंध नहीं है। यदि हम ऐसा करेंगे तो वहां ही पड़े रहेंगे जहां हम सदा रहे हैं और इस बाह्य जगत्‌पर विजय कभी मिलेगी ही नहीं, इस पार्थिव भूमिकापर किसी चिरस्थायी परिणामकी प्राप्ति होगी ही नहीं।

"जो लोग बहुत अधिक ऊपर उठ चुके हैं, क्या वे इस भूमिकापर फिर वापस आते हैं?"

हां, यदि इस भूमिकाका रूपांतर करनेका उनका संकल्प हो तो जितना अधिक वे ऊपर उठे होंगे, उतना ही उनका यहां वापस आना निश्चित है। और जिन लोगोंकी इच्छा यहांसे भाग जानेकी है, वे भी, जब दूसरी दिशामें पहुंच जाते हैं तब हो सकता है कि यह अनुभव करें कि आखिर इस प्रकार भाग आनेका कोई विशेष फल नहीं हुआ।

"क्या इस बातका स्मरण बहुतोंको रहता है कि वे ऊपर पहुंच गये थे और पुनः वापस आये हैं?"

चेतनाकी एक विशेष अवस्थामें पहुंच जानेपर यह स्मृति हो सकती है। आंशिक रूपमें, किसी थोड़ेसे कालके लिये इस अवस्थाका स्पर्श करना बहुत अधिक कठिन नहीं है; गभीर ध्यानमें, स्वप्नमें अथवा सूक्ष्म जगतोंके जब दृश्य दिखायी देते हैं तब किसीको इस प्रकारका अनुभव या आभास हो सकता है कि पहले वह अमुक जीवन बिता चुका है, उसको अमुक प्रकारका साक्षात्कार हुआ था, उसको अमुक सत्यका ज्ञान हुआ था। परंतु इसे पूर्ण साक्षात्कार नहीं कहा जा सकता। पूर्ण अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक उस स्थायी चेतनाको प्राप्त कर ले जो हमारे अन्दर ही है, जो सनातन है तथा हमारे भूत, वर्तमान और भावी जीवनको एक साथ धारण किये हुए है।

"जिस समय हम मानसिक प्रवृत्तियोंमें अथवा बुद्धिके व्यापारोंमें एकाग्र रहते हैं उस समय हम भगवान्‌को कभी-कभी क्यों भूल जाते अथवा उनके स्पर्शको क्यों गवां देते हैं?"

यह इसलिये होता है कि तुम्हारी चेतना अभीतक बंटी हुई है। तुम्हारे मनमें भगवान् अभीतक अच्छी तरहसे बस नहीं गये हैं, अभीतक तुम दिव्य जीवनपर पूर्ण रूपसे न्योछावर नहीं हुए हो। नहीं तो चाहे जितना तुम मन-बुद्धिके व्यापारोंमें लीन क्यों न रहो फिर भी तुमको यह भान रहेगा कि भगवान् तुम्हारी सहायता कर रहे हैं और तुमको धारण किये हुए हैं।

अपनी प्रत्येक प्रवृत्तिमें, चाहे वह बौद्धिक हो या बाह्य, तुम्हारा एकमात्र मंत्र होना चाहिये 'स्मरण रखना और समर्पण करना।' तुम जो कुछ भी करो वह सब भगवान्‌के अर्पणरूप हो। और यह भी तुम्हारे लिये एक सुन्दर साधना बन जायगा और अनेकों मूर्खतापूर्ण और निरर्थक कामोंसे तुम्हारी रक्षा करेगा।

"कर्मके आरंभमें प्रायः ऐसा किया जा सकता है, किंतु जैसे-जैसे

कोई कार्यमें लीन होता जाता है वैसे-वैसे वह भूलता जाता है। स्मृति बनाये रखनेका क्या उपाय है ?"

जिस अवस्थाको प्राप्त करना है, जो योगकी वास्तविक पूर्णता ह, अन्तिम प्राप्ति और सिद्धि है, जिसके लिये बाकी सब कुछ केवल तैयारी-मात्र है, वह तो एक ऐसी चेतना है जिसमें भगवान्‌के बिना कुछ भी काम नहीं चलता। कारण, उस समय यदि तुम भगवान्‌के बिना होओ तो तुम्हारी क्रियाका आधार ही लुप्त हो जाता है, ज्ञान, शक्ति सब कुछ चले जाते हैं। परंतु जबतक तुम यह अनुभव करते रहोगे कि जिन शक्तियोंका तुम उपयोग कर रहे हो वे तुम्हारी अपनी हैं तबतक तुम भगवान्‌के सहारेकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करोगे।

योग-साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें यह बहुत संभव है कि बहुधा तुम भगवान्‌को भूल जाओ। परंतु सतत अभीप्साके द्वारा तुम्हारी स्मृति बढ़ जाती है और विस्मृति घटती जाती है। परंतु इसको किसी कठोर तपस्या या ड्यूटीके रूपमें नहीं करना चाहिये, यह साधना तो प्रेम और आनन्दकी एक सहज अभिव्यक्ति-स्वरूप होनी चाहिये। जब तुम इस प्रकार कर सकोगे तब तुम्हारी साधनामें शीघ्र ही एक ऐसी अवस्था आ जायगी कि तुम यदि प्रत्येक क्षण और अपने प्रत्येक कार्यमें भगवान्‌की उपस्थितिका अनुभव न करो तो तुम तुरत अपने-आपको अकेला, उदास और दुःखी अनुभव करने लगोगे।

जब भी तुम्हें यह दिखायी पड़े कि तुम भगवान्‌की उपस्थितिका अनुभव किये बिना ही किसी कामको कर सकते हो और फिर भी चैनसे रह सकते हो, तभी तुमको यह समझना चाहिये कि तुम्हारी सत्ताके उस भागका अभीतक समर्पण नहीं हुआ है। यह तो साधारण मानव-समाजका तरीका है, जिसे भगवान्‌की जरूरत ही क्या है! परंतु दिव्य जीवनके साधकका मार्ग सर्वथा भिन्न होता है। और जब भगवान्‌के साथ तुम्हारी पूर्ण रूपसे एकता हो जाती है, तब यदि क्षणभरके लिये भी भगवान् तुमसे अलग हो जायं, तो तुम बस निर्जीव हो जाओगे और पछाड़

खाकर गिर पड़ोगे। कारण, अब भगवान् ही होते हैं तुम्हारे प्राणके प्राण, तुम्हारे समग्र जीवन, तुम्हारे एकमात्र और संपूर्ण शरण। अब यदि भगवान् तुम्हारे साथ न हों तो फिर तुम्हारे पास कुछ रह ही नहीं जाता।

"क्या साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें साधारण कोटिकी पुस्तकों-का पढ़ना साधकके लिये उचित है?"

धर्मग्रंथोंको पढ़ते हुए भी तुम भगवान्से दूर रह सकते हो और अत्यन्त मूर्खतापूर्ण प्रकाशनोंको पढ़ते हुए भी तुम भगवान्के स्पर्शमें रह सकते हो। जबतक रूपांतरके स्वादको तुम चख न लो तबतक रूपांतरित चेतना और उसकी गतियोंको समझना असंभव है। भगवान्के साथ एकताको प्राप्त हुई चेतनाका एक मार्ग है जिसके द्वारा तुम जो कुछ भी पढ़ो, जो कुछ भी देखो उस सबमें रस ले सकते हो, यहांतक कि अत्यन्त निरर्थक पुस्तकोंमें भी और अत्यन्त अरुचिकर दृश्योंमें भी। तुम अत्यन्त घटिया संगीतको—ऐसे संगीतको भी जिसे सुनकर कोई वहांसे भाग जाना चाहे—सुनकर भी आनन्द ले सकते हो, उसके बाह्य स्वरूपके कारण नहीं बल्कि उस संगीतके पीछे जो कुछ है उसके कारण। यह नहीं कि इस अवस्थामें तुम उच्च कोटिके संगीत और हीन कोटिके संगीत-में जो भेद है उसके विवेकको गंवा देते हो, बल्कि तुम इन दोनोंके परे जाकर वहां पहुंच जाते हो जिसको वह संगीत व्यक्त करता है। कारण संसारमें ऐसी कोई चीज है ही नहीं जिसका अंतिम सत्य और आश्रय भगवान्में न हो। और यदि किसी चीजके भौतिक, नैतिक या रसमय रूपको देखकर तुम वहीं न रुक जाओ, बल्कि उसके परे पहुंचकर उसका जो आत्मा है, उस चीजके अन्दर वर्तमान जो भगवान्का अंश है उसका स्पर्श करो तो साधारण इंद्रियोंको जो कुछ तुच्छ, दुःखदायी अथवा बेसुरा लगता है उसके अन्दर भी तुम सौंदर्य और आनन्दको प्राप्त कर सकते हो।

"किसी मनुष्यके भूतकालका औचित्य दिखानेके लिये क्या यह कहा जा सकता है कि उसके जीवनमें जो कुछ घटना घटी है वह घटनी ही चाहिये थी ?"

यह तो स्पष्ट ही है, जो कुछ हुआ है वह होनेको ही था, यदि उस प्रकार अभिप्रेत न होता तो वैसा होता ही नहीं। हमने जो भूलें की हैं, हमपर जो विपत्तियां पड़ी हैं वे भी होनी ही चाहिये थीं, कारण उनकी कोई आवश्यकता थी, हमारे जीवनमें उनकी कोई उपयोगिता थी। परंतु सच पूछो तो इन बातोंको मनके द्वारा समझाना असंभव है और चाहिये भी नहीं। कारण जो कुछ हमारे जीवनमें बीता है उसकी कोई आवश्यकता थी, यह आवश्यकता मानसिक तर्कके लिये नहीं थी, किंतु इसलिये थी कि वह हमको वहां पहुंचा दे जो मनकी कल्पनाशक्तिसे परे है। परंतु इसकी व्याख्या करनेकी कोई आवश्यकता है क्या ? यह समग्र विश्वब्रह्मांड प्रत्येक चीजकी व्याख्या प्रत्येक क्षण स्वयं कर रहा है। और यह समग्र विश्व जैसा है इस कारणको लेकर ही कोई विशिष्ट घटना घटती है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रकृतिके निष्ठुर नियमोंको हम अपनी अंध अनुमति देनेके लिये बंधे हुए हैं। अपने भतकालको तुम निश्चित तथ्य कहकर स्वीकार कर सकते हो और उसकी एक आवश्यकता थी ऐसा बोध कर सकते हो, फिर भी उससे जो तुम्हें अनुभव मिला उसका उपयोग तुम उस शक्तिके निर्माणके लिये कर सकते हो जो तुम्हें अपने वर्तमान और भविष्य कालका सचेतन रूपसे संचालन और गठन करनेकी क्षमता प्रदान करेगी।

"क्या भगवान्‌की योजनामें हरेक घटनाका काल भी निश्चित किया हुआ रहता है ?"

इस प्रश्नका उत्तर इस बातपर निर्भर करता है कि कौन किस भूमिकासे देखता और बोलता है। भागवत चेतनाकी एक भूमिका है जहां सब

कुछ परमार्थतः जाना हुआ रहता है और सृष्टिकी समस्त योजना पूर्वदृष्ट और पूर्वनिश्चित रहती है। इस प्रकारकी दृष्टि तो विज्ञानमय लोककी उच्चतम भूमिकामें पहुंचनेपर ही प्राप्त होती है, यह पुरुषोत्तमकी अपनी दृष्टि है। परंतु जबतक हम इस चेतनाको प्राप्त न कर लें तबतक वहां-की बातें करना निरर्थक है, क्योंकि वहांकी बातें उस भूमिकापर ही काम देती ह और वे हमारी वर्तमान दृष्टिसे परे हैं। चेतनाकी निम्नतर भूमिकामें पहलेसे कुछ भी सिद्ध या नियत नहीं होता, सब कुछ तैयार होनेकी प्रक्रियामें होता है। यहां इस भूमिकामें निर्धारित घटनाएं हैं ही नहीं, यहां तो केवल संभावनाओंका खेल है, और इन संभावनाओंके संघर्षके भीतरसे ही वह वस्तु सिद्ध की जाती है जो होनेको होती है। इस भूमिकापर हम पसंदगी और चुनाव कर सकते हैं। हम चाहें तो किसी एक संभावनाका त्याग कर दूसरीको स्वीकार कर सकते हैं, किसी एक मार्गका अनुसरण कर दूसरेको छोड़ दे सकते हैं। हम यह सब कुछ कर सकते हैं, फिर जो कुछ वस्तुतः घटित होता है वह चाहे किसी उच्चतर भूमिकामें पूर्वदृष्ट और पूर्वनिश्चित किया हुआ ही क्यों न हो।

परम चेतना प्रत्येक बातको पहलेसे जानती है, कारण वहां उसकी अनंततामें सब कुछ पहलेसे सिद्ध किया हुआ होता है। परंतु अपनी लीलाके लिये और जो कुछ उसके परम आत्मामें पूर्वनिर्दिष्ट है उसको पार्थिव भूमिकापर कार्यान्वित करनेके लिये, यहां, इस पृथ्वीपर वह इस प्रकार विचरती है मानो समस्त कहानी उसे ज्ञात ही न हो, वह इस प्रकार कार्य करती है मानो वह किसी नये और अपरिचित सूतको बुन रही हो। उच्चतर चेतनामें पूर्वनिश्चित समस्त विषयोंके संबंधमें उसको जो भविष्य ज्ञान है उसकी आपातदृष्ट यह विस्मृति ही है जो क्रियात्मक जीवनमें व्यक्तिको उसकी अपनी स्वतंत्रता, स्वाधीनता और आरंभ-शक्तिका भान कराती है। व्यक्तिके अन्दर जो ये तत्त्व हैं वे ही उसके व्यावहारिक यंत्र और साधन हैं और इनके द्वारा ही वे सब गतियां और परिणाम जो चेतनाकी अन्य भूमिकापर योजित किये हुए और पूर्वदृष्ट होते हैं, यहां इस पार्थिव भूमिकापर सिद्ध किये जाते हैं।

यदि तुम नाटकके एक पात्रका उदाहरण लो तो इस विषयके समझनेमें तुम्हें सहायता मिलेगी। नाटकके पात्रको अपने पार्टका संपूर्ण रूपसे ज्ञान रहता है। रंगमंचपर जो घटना घटनेवाली है उसका क्रम और परिणाम उसके मनके अन्दर होता है। परंतु जब वह रंगमंचपर आता है तो उसे इस प्रकार आना पड़ता है मानो वह कुछ जानता ही नहीं, उसे इस प्रकार अनुभव करना और पार्ट करना पड़ता है, मानो वह इन समस्त बातोंका जीवनमें प्रथम अनुभव कर रहा हो, मानो संभावनाओं, घटनाओं और आश्चर्योंसे भरा हुआ यह कोई एकदम नया जगत् है जिसका पट उसकी आंखोंके आगे खुल रहा हो।

"तो क्या वास्तविक स्वतंत्रता नामकी कोई चीज है ही नहीं? क्या सब कुछ, यहांतक कि जीवकी स्वतंत्रता भी, पूर्ण रूपसे पूर्वनिर्धारित ही हुआ करती है, और क्या प्रारब्धवाद ही परम रहस्य है?"

स्वतंत्रता और प्रारब्ध, स्वाधीनता और नियतिवाद, ये चेतनाके विभिन्न स्तरोंके सत्य हैं। अज्ञानके कारण यह होता है कि मन इन्हें एक ही स्तरपर लाकर रख देता है और एक दूसरेमें विरोध देखता है। चेतना कोई एक ही प्रकारकी सद्वस्तु नहीं है, वह बहुविध है, वह किसी समतल भूमिकी जैसी नहीं है, वह तो अनेक दिशाओंमें फैली हुई है। उच्चतम ऊंचाईपर पुरुषोत्तम हैं और निम्नतम गहराईपर जड़प्रकृति (Matter) है, और इस निम्नतम गहराई और उच्चतम ऊंचाईके बीचमें चेतनाओंकी अनन्त भूमिकाओंका क्रमविन्यास है।

जड़प्रकृतिके क्षेत्रमें और साधारण चेतनाके स्तरपर तुम हर ओरसे बंधे हुए हो। प्रकृतिकी यांत्रिकताके गुलाम होनेके कारण तुम कर्मकी सांकलसे जकड़े हुए हो, और इस सांकलके बंधनमें रहते हुए जो कुछ घटना घटती है वह अचूक रूपसे पूर्वकर्मोंके परिणामस्वरूप होती है। इस अवस्थामें भी जो यह भान होता है कि तुम्हारी गति स्वतंत्र है सो तो एक भ्रम ही है, यथार्थमें इस भूमिकापर दूसरे लोग जो कुछ करते हैं

उसको ही तुम दोहराते भर हो, प्रकृतिकी जो विश्व-गतियां हैं उनकी तुम प्रतिध्वनिमात्र करते हो, उसके विश्वयंत्रके कुचल देनेवाले मायाचक्रपर आरूढ़ होकर तुम असहाय रूपसे भ्रमण करते रहते हो।

परंतु ऐसा होना कोई आवश्यक बात नहीं है। तुम चाहो तो अपनी स्थितिको बदल दे सकते हो और नीचे पड़े रहकर रौंदे जाने या कठ-पुतलीकी तरह नचाये जानेके बदले इसके ऊपरकी स्थितिमें उठ जा सकते हो और वहांसे ही संसारचक्र और उसकी अवस्थाओंपर दृष्टिपात कर सकते हो तथा अपनी चेतनाके परिवर्तनद्वारा तुम यहांतक कर सकते हो कि तुम इस चक्रको फिरानेवाले किसी हत्थेको हथिया लो, जिससे कि इन आपातदृष्ट अनिवार्य घटनाओंको तुम परिचालित कर सको और इन निश्चित अवस्थाओंको परिवर्तित कर सको। एक बार जहां तुम अपने-आपको इस भंवरसे बाहर निकाल लाये और ऊपर ऊर्ध्वमें जाकर खड़े हुए कि तुम अपने-आपको मुक्त पाओगे। समस्त गुलामीसे मुक्ति पाकर केवल इतना ही नहीं होगा कि अब तुम प्रकृतिके एक निष्क्रिय उपकरण नहीं रहोगे, बल्कि उसके एक सक्रिय प्रतिनिधि बन जाओगे। अब केवल यही नहीं होगा कि तुम अपने कर्मफलोंके बंधनसे मुक्त हो जाओगे, बल्कि तुम अपने कर्मफलोंको भी बदल दे सकोगे। एक बार जहां तुम शक्तियोंकी लीलाको देख पाओगे, एक बार जहां तुम चेतनाकी उस भूमिकामें ऊपर उठ जाओगे जहांसे शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है और इन गतिशील उद्गमोंके साथ अपने-आपको एक कर लोगे, तो फिर तुम उस श्रेणीके नहीं रहोगे जिस श्रेणीके जीवोंका परिचालन किया जाता है, बल्कि उस श्रेणीके हो जाओगे जो परिचालन करती है।

अस्तु! यही है योगका वास्तविक ध्येय—कर्मचक्रसे बाहर निकलकर भागवत गतिमें प्रवेश करना। योगके द्वारा तुम प्रकृतिकी उस यांत्रिक गतिसे छुटकारा पा सकते हो जिसमें तुम्हारी अवस्था एक मूढ़ गुलामकी-सी है, जहां तुम एक असहाय और बेबस उपकरणकी तरह हो, और तुम एक दूसरी ही भूमिकामें ऊपर उठ जाते हो जहां किसी उच्चतर भवि-तव्यताको कार्यमें परिणत करनेमें तुम एक सचेतन सहयोग देनेवाले और

उस कार्यके लिये भगवान्के एक सक्रिय प्रतिनिधि बन जाते हो। चेतना-की यह गति द्विविध होती है। पहले तो चेतनाका आरोहण होता है, तुम अपनेको जड़प्राकृतिक चेतनाकी सतहसे ऊपर उठाकर श्रेष्ठतर क्षेत्रों-में ले जाते हो। परंतु निम्नतर क्षेत्रोंसे ऊर्ध्वतर क्षेत्रोंमें जो यह आरो-हण होता है वह ऊर्ध्वतर चेतनाको निम्नतर क्षेत्रोंमें अवतरण करनेके लिये आवाहन करता है। पार्थिव भूमिकासे ऊपर उठनेके फलस्वरूप ऊपरकी किसी चीजको भी तुम इस पृथ्वीपर उतार लाते हो—किसी ऐसी ज्योति या शक्तिको उतार लाते हो जो इस पृथ्वीकी पुरानी प्रकृतिका या तो स्वयं रूपांतर कर देती है या उसको रूपांतरित होनेके लिये प्रवृत्त कर देती है। और तब यह होता है कि वे जो अभीतक एक दूसरेसे अलग, बेमेल और विषम थे—तुम्हारे अन्दर जो कुछ उच्च है वह और जो कुछ निम्न है वह, दूसरे शब्दोंमें तुम्हारी सत्ता और चेतनाके आंतर और बाह्य स्तर—एक दूसरेसे मिल जाते और धीरे-धीरे आपसमें जुड़ जाते हैं तथा क्रमशः एक सत्य और एक सामंजस्यमें परिणत हो जाते हैं।

लोग जिन्हें चमत्कार कहते हैं, वे इसी तरह घटित होते हैं। यह जगत् चेतनाकी अनेक भूमिकाओंद्वारा निर्मित हुआ है और प्रत्येक भूमिका-के अपन-अपने जुदा नियम हैं। एक भूमिकाके नियम दूसरी भूमिका-पर लागू नहीं होते। चमत्कारका अर्थ ही है किसी प्रकारका आकस्मिक अवतरण, किसी अन्य चेतना और उसकी शक्तियोंका—जो बहुधा प्राण-की शक्तियां होती हैं—इस स्थूलभौतिक लोकमें आविर्भूत हो जाना। यहांकी स्थूलभौतिक यंत्ररचनापर किसी उच्चतर भूमिकाकी यंत्र-रचना हठात् उतर आती है। यह इस तरह होता है मानो कोई बिजली हमारी साधारण चेतनाके बादलोंको चीरकर उसमें उतर आयी हो और अन्य शक्तियों, अन्य गतियों तथा अन्य परिणामोंको उसमें भर दिया हो। और इसके फलको ही हम चमत्कार कहते हैं, क्योंकि हमारी साधारण भूमिकामें जो स्वाभाविक नियम काम कर रहे हैं उनमें अचानक एक परिवर्तन हो गया दिखायी देता है, ऐसा जान पड़ता है कि इन नियमोंमें एकाएक कोई हेर-फेर हो गया है, किंतु इस परिवर्तन या हेर-फेरके कारण

और व्यवस्थाको हम जान या देख नहीं पाते, क्योंकि इस चमत्कारका मूल कारण तो किसी दूसरी भूमिकामें विद्यमान होता है। अपने इस पार्थिव लोकपर अन्य ऊर्ध्व लोकोंके इस प्रकारके हमले होना कोई बहुत असाधारण बात नहीं है। ये तो बराबर होते ही रहते हैं, और यदि हमको दृष्टि हो और इनको किस प्रकार देखा जाता है इस बातका ज्ञान हो तो चमत्कार तो हमको प्रचुर परिमाणमें होते हुए दिखायी देंगे। विशेषतः वे साधक जो उच्चतर भूमिकाओंकी शक्तियोंको इस पार्थिव चेतनापर नीचे उतार लानेका प्रयत्न कर रहे हैं, उनमें तो ये अनवरत होते ही रहते हैं।

"क्या सृष्टिका कोई निश्चित लक्ष्य है? क्या इसका कोई अंतिम ध्येय है जिसकी ओर यह अग्रसर हो रही है?"

नहीं, यह विश्व एक गति है जो शाश्वत रूपसे स्वतः उद्घाटित हो रही है। यहां ऐसा कुछ नहीं है जिसको यह कहा जा सके कि यही इसका अन्त है, यही एक लक्ष्य है। परंतु कार्यसंचालनके लिये हमको इस गतिका–जो स्वयं अनन्त है–खंड कर लेना पड़ता है और यह कहना पड़ता है कि हमारा अमुक लक्ष्य है, क्योंकि कार्य करनेके लिये हमें किसी ऐसी चीजकी आवश्यकता पड़ती है जिसपर हम अपना लक्ष्य बांध सकें। एक चित्र आंकनेमें तुम्हें उसकी रचना और रंगोंकी एक निश्चित आयोजना कर लेनेकी आवश्यकता होती है, तुम्हें एक सीमा बांधनी होती है, जो कुछ चित्रित करना है वह सब कुछ एक नियत ढांचेमें आ जाय ऐसा करना होता है, किंतु वह सीमा मिथ्या होती है, वह ढांचा केवल सांकेतिक होता है। असलमें चित्रकी एक सतत निरवच्छिन्न धारावाहिता होती है जो किसी भी विशिष्ट ढांचेका अतिक्रमण करती है, और उसकी प्रत्येक निरवच्छिन्नता, प्रत्येक धारा उसी प्रकारसे एक-एक ढांचेमें उतारी जा सकती है और इस प्रकार अनगिनत ढांचोंका कभी न समाप्त होनेवाला एक ढेर लग जा सकता है। हम यह कहते हैं सही

कि हमारा लक्ष्य अमुक है, किंतु हम यह जानते हैं कि इस लक्ष्यके परे जो दूसरा लक्ष्य होगा उसका यह प्रारंभमात्र है, और इस प्रकार हमारे सामने एकके बाद दूसरा लक्ष्य आता रहता है और यह शृंखला सदा बढ़ती ही रहती है, कभी भी बन्द नहीं होती।

५

"बुद्धिका यथार्थ व्यापार क्या है? यह साधनामें सहायक है या बाधक?"

साधनामें बुद्धिका सहायक या बाधक होना इसके उपयोग करनेवाले व्यक्तिपर, और किस प्रकार इसका उपयोग किया जाता है, इसपर निर्भर करता है। बुद्धिकी क्रिया सही भी होती है और गलत भी। सही क्रिया सहायक होती है और गलत क्रिया बाधक होती है। जो बुद्धि अपनेको बहुत अधिक महत्त्व देती और अपनी ही आत्मसंतुष्टि करना चाहती है, वह उच्चतर सिद्धिको प्राप्त करनेमें बाधक होती है।

परन्तु यह बात किसी विशेष अर्थमें ही सत्य नहीं है और यह केवल बुद्धिपर ही लागू नहीं होती, यह सर्वसाधारण है और मनुष्यकी जो अन्य शक्तियां हैं उनपर भी यह उसी प्रकार लागू होती है। उदाहरणार्थ प्राणकी वासनाओं अथवा पाशविक तृष्णाओंकी तृप्तिमें ही लीन रहनेकी वृत्तिको लोग सद्गुण नहीं समझते। इस संबंधमें वे नैतिक धारणाको एक नियन्त्रणके तौरपर स्वीकार करते हैं, यह नैतिक धारणा उन्हें बतलाती है कि वासनाओं और तृष्णाओंकी सीमा यहांतक है और इसका उल्लंघन करना अनुचित है। केवल बुद्धिकी क्रियाओंके सम्बन्धमें ही मनुष्य ऐसा समझते हैं कि किसी नियन्त्रण या अंकुशके बिना उनका काम चल जायगा।

सत्ताका कोई भी भाग जो अपने उचित स्थानपर रहता और अपने नियत धर्मका पालन करता है, वह सहायक होता है, किन्तु जैसे ही वह

अपनी सीमाके बाहर निकला कि वह आकुंचित, विकृत और इस कारण असत्य बन जाता है। किसी भी शक्तिका प्रयोग जब भागवत प्रयोजनकी पूर्तिके लिये किया जाता है तब वह उचित होती है, किन्तु वही शक्ति जब अपने ही संतोषके लिये प्रयोगमें लायी जाती है तब उसकी गति अनुचित होती है।

बुद्धि, अपने सत्य स्वरूपमें, अभिव्यक्ति और कर्मका उपकरण है। ऐसा समझो कि मनके ऊपर, उच्चतर भूमिकाओंमें स्थित जो सत्य ज्ञान है और यहां पार्थिव भूमिकापर उसकी जो उपलब्धि होती है–इन दोनोंके बीच मध्यवर्त्ती वस्तु बुद्धि है। बुद्धि और अधिक साधारण रूपमें यदि कहा जाय तो मन, इस सत्यको आकार प्रदान करता है, प्राण इसमें गतिशीलता लाता और जीवन-शक्तिका संचार करता है, और सबके अंतमें जड़तत्त्वकी बारी आती है जो इसको स्थूल रूपमें मूर्त्तिमान् करता है।

"विरोधी शक्तियोंका, जो नेत्रोंसे अगोचर होते हुए भी जीवंत और स्पष्टतया अनुभवनीय हैं, मुकाबला किस प्रकार करना चाहिये ?"

यह बात तुम्हारी चेतनाके विकासकी अवस्थापर बहुत कुछ निर्भर करती है। आरम्भमें यदि तुम्हारे पास विशेष सूक्ष्म ज्ञान और शक्ति न हो तो तुम्हारे लिये सबसे अच्छी बात यह है कि तुम जहांतक सम्भव हो वहांतक शान्त और स्थिर रहो। यदि आक्रमण विरोधी सुझावोंका रूप धारण करे तो तुमको उसे शान्तिके साथ ठीक उसी तरह दूर फेंक देना चाहिये जैसे किसी भौतिक पदार्थको प्रतिकूल होनेपर फेंक दिया जाता है। तुम्हारी शान्ति जितनी ही अधिक होगी उतने ही तुम शक्तिशाली होओगे। सभी आध्यात्मिक शक्तियोंका सुदृढ़ आधार है समचित्तता। किसी भी चीजको तुम्हें ऐसा अवसर नहीं देना चाहिये कि वह तुम्हारी समतोलताको भंग कर सके। यदि तुम ऐसा कर सके तो फिर किसी भी आक्रमणका प्रतिरोध कर सकोगे। इसके अतिरिक्त यदि तुम्हारे

पास यथेष्ट विवेकशक्ति हो और जैसे ही विरोधी सुझाव तुम्हारे पास आवें वैसे ही तुम उन्हें देख और पकड़ सको तो उन्हें निकाल बाहर करना और भी सहज हो जाता है, किंतु कभी-कभी ये अलक्षित रूपसे घुस आते हैं और तब इनसे युद्ध करना अधिक कठिन होता है। जब ऐसा हो तब तुम्हें स्थिर होकर बैठना चाहिये और शान्ति तथा गभीर आंतरिक स्थिरताका आवाहन करना चाहिये। अपने-आपको दृढ़ बनाये रखो और श्रद्धा तथा विश्वासके साथ भगवान्‌को पुकारो। यदि तुम्हारी अभीप्सा शुद्ध और अविरत है तो तुम अवश्य सहायता प्राप्त करोगे।

विरोधी शक्तियोंके आक्रमण अपरिहार्य हैं। इनके विषयमें तुम्हें यों समझना चाहिये कि साधनाके मार्गमें ये एक तरहकी परीक्षाएं हैं और इन अग्निपरीक्षाओंमेंसे तुम्हें साहसके साथ गुजरना चाहिये। हो सकता है कि यह संघर्ष कठिन हो, किन्तु जब तुम इसको पार करके बाहर निकलोगे तब तुम देखोगे कि तुमने कुछ प्राप्त किया है, तुम एक कदम आगे बढ़े हो। विरोधी शक्तियोंके होनेकी भी एक आवश्यकता है। ये तुम्हारे निश्चय-को अधिक दृढ़ करतीं और तुम्हारी अभीप्साको अधिक शुद्ध बनाती हैं।

फिर भी, यह सत्य है कि इनका अस्तित्व इसलिये है कि तुमने इनके अस्तित्वके लिये कारण दे रखा है। जबतक तुममें कोई भी चीज ऐसी है जो इनकी पुकारका उत्तर देती है तबतक इनका हस्तक्षेप करना सर्वथा जायज है। यदि तुम्हारा कोई भी भाग इनका प्रत्युत्तर न दे, यदि तुम्हारी प्रकृतिके किसी भी अंशपर इनका वश न हो तो ये लौट जायंगी और तुम्हें छोड़ देंगी। परन्तु कुछ भी क्यों न हो, ये तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगतिको रोक या अटका नहीं सकतीं।

विरोधी शक्तियोंसे युद्ध करनेमें तुम्हारा पराजय तो एक ही कारणसे हो सकता है और वह है भागवत साहाय्यमें सच्चे विश्वासका न होना। अभीप्साकी सच्चाई आवश्यक साहाय्यको सदा ले ही आती है। शान्त आवाहन, ऐसा विश्वास कि सिद्धिकी ओर तुम्हारा जो आरोहण हो रहा है उसमें कभी भी तुम अकेले नहीं चल रहे हो और यह श्रद्धा कि जब कभी किसी सहायताकी आवश्यकता होगी तो वह सदा तुम्हें उपस्थित

मिलेगी–तुम्हें सहज और निरापद रूपसे इस संग्रामके पार पहुंचा देगी।

"ये विरोधी शक्तियां साधारणतया बाहरसे आती हैं या अंदरसे ?"

यदि तुम ऐसा सोचते या अनुभव करते हो कि ये अंदरसे आती हैं तो संभवतः तुमने अपने-आपको उनके लिये खोल दिया है और वे तुम्हारे अंदर अलक्षित रूपसे आकर जम गयी हैं। वस्तुओंका सत्य स्वभाव सामञ्जस्यका होता है, किन्तु कतिपय जगत् ऐसे हैं जहां इस सामञ्जस्यमें विकार पैदा होता है जिसके फलस्वरूप विकृति और विरोधकी सृष्टि हो जाती है। विकार पैदा करनेवाले इन जगतोंके साथ यदि तुम्हारा बहुत अधिक मेल खाता हो तो यह हो सकता है कि वहांकी सत्ताओंके साथ तुम मित्रता स्थापित करो और उनकी पुकारका तुम भरपूर उत्तर दो। ऐसा होता है, किन्तु यह अच्छी अवस्था नहीं है। चेतना तुरत अंधी हो जाती है और तुम सत्य और असत्यमें विवेक करनेमें असमर्थ हो जाते हो तथा तुम यह कहनेके योग्य भी नहीं रह जाते कि कौनसी चीज तो मिथ्या है और कौनसी नहीं।

कुछ भी हो, जब कोई आक्रमण हो रहा हो तब बुद्धिमानी इसीमें है कि साधक यह समझे कि यह आक्रमण बाहरसे आया है और कहे कि 'यह मेरा स्वरूप नहीं है और मैं इससे किसी प्रकारका संपर्क नहीं रखूंगा।' समस्त निम्नतर आवेगों और इच्छाओं तथा मनके समस्त संदेहों और शंकाओंके साथ भी तुम्हें यही व्यवहार करना होगा। यदि तुम अपने-आपको इनके साथ तदाकार कर लो तो इनके साथ तुम्हारा युद्ध और भी विकट हो जाता है, कारण उस समय तुम यह अनुभव करने लगते हो कि तुम अपने ही स्वभावको पराजित करने जैसे अतिदुष्कर कार्यमें लगे हो। परन्तु जैसे ही तुम यह कह सको कि 'नहीं, यह मेरा स्वरूप नहीं है, इससे मैं किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखूंगा,' वैसे ही इनको हराकर भगा देना बहुत सहज हो जाता है।

"आंतर और बाह्यको अलग-अलग करनेके लिये यदि एक रेखा खींची जाय तो उसका स्थान कहांपर होगा ?"

यह रेखा अत्यन्त लचकीली होगी, तुम चाहो जितना यह तुम्हारे समीप हो सकती है और तुम चाहो जितना यह तुमसे दूर हो सकती है। तुम चाहो तो हरेक बातको अपने ऊपर लेकर उसको अपने वास्तविक आत्माका एक अंग और अंश मान सकते हो अथवा तुम चाहो तो उसको, एक केश या नाखूनके टुकड़ेकी तरह, मनपर किसी बातका असर पड़ने दिये बिना, दूर फेंक सकते हो।

जगत्में ऐसे धर्मोंकी सृष्टि हुई है जिनके अनुयायी अपने केश या नाखूनके एक टुकड़ेको भी अपनेसे अलग नहीं करते, कारण उन्हें भय होता है कि इसमें वे अपने व्यक्तित्वके किसी भागको गंवा न दें। जो लोग अपनी चेतनाको जगत्के जितना ही विशाल बनाकर फैला देनेमें समर्थ होते हैं, वे स्वयं जगत्‌रूप हो जाते हैं, किन्तु जो लोग अपने क्षुद्र शरीरों और सीमित अनुभवोंमें ही बंद हैं, वे उन सीमाओंपर जाकर रुक जाते हैं, उनके शरीर और उनके क्षुद्र अनुभव ही उनके लिये उनका समग्र आत्मा होता है।

"क्या केवल श्रद्धा सब कुछ सृजन कर सकती है, सब कुछ जीत सकती है ?"

हां, किन्तु यह श्रद्धा सर्वांगसम्पूर्ण होनी चाहिये और निरपेक्ष होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह सच्चे प्रकारकी होनी चाहिये, यह केवल मानसिक विचार या संकल्पकी एक शक्तिके रूपमें हो इतनेसे ही काम नहीं चलेगा, यह होनी चाहिये इन सबसे आगे बढ़ी हुई और अधिक गहरी। मनके द्वारा प्रयुक्त जो संकल्प होता है वह विरोधी प्रतिक्रियाओं-को उभाड़ता और प्रतिरोध उत्पन्न करता है। रोगियोंको अच्छा करनेकी एमिल कूकी चिकित्सा-पद्धतिके बारेमें तुमने सुना होगा। वे

इस शक्तिके रहस्यको कुछ-कुछ जानते थे और इस शक्तिका प्रयोग उन्होंने बहुत कुछ सफलतापूर्वक किया था। परन्तु इस शक्तिको वे कल्पनात्मक मानते थे और उनकी पद्धतिसे श्रद्धाकी जो शक्ति उत्पन्न होती थी उसे उन्होंने बहुत ही अधिक मानसिक रूप दे दिया था। परन्तु केवल मानसिक श्रद्धा पर्याप्त नहीं है, इस श्रद्धाको प्राणकी श्रद्धाद्वारा यहांतक कि भौतिक श्रद्धा अर्थात् शरीरकी श्रद्धाद्वारा भी पूर्ण और शक्तिशालिनी बनाना होगा। यदि तुम अपने अंदर, अपनी समस्त सत्तामें इस प्रकार-की एक सर्वांगसम्पूर्ण शक्तिकी सृष्टि कर सको तो फिर कोई चीज भी इस शक्तिका प्रतिरोध नहीं कर सकती। परन्तु तुम्हें अपने अत्यन्त अचेतन भागोंतक पहुंचना होगा, अपने शरीरके एक-एक अणुतकमें इस श्रद्धाको स्थापित कर देना होगा। उदाहरणार्थ, आजकल जड़-वैज्ञानिकोंमें भी इस ज्ञानका प्रारम्भ हो चुका है कि 'मृत्यु' आवश्यक नहीं है। परन्तु सारी मानव-जाति 'मृत्यु' में दृढ़तापूर्वक विश्वास करती है; ऐसा कहा जा सकता है कि यह मनुष्योंमें सर्वसाधारण रूपसे बैठी हुई एक धारणा है जो एक ऐसे अनुभवपर स्थापित है जो दीर्घ कालसे अपरिवर्तित रूपमें होता चला आया है। यदि इस विश्वासको पहले तो सचेतन मनसे और बादमें प्राण-प्रकृति और अवचेतन भौतिक स्तरोंसे निकाल बाहर कर दिया जाय तो मृत्यु एक अपरिहार्य वस्तु नहीं रह जायगी।

"परंतु मृत्युकी यह धारणा केवल मानव-मनमें ही तो नहीं है, पशुजाति इसको मनुष्यसे पहले ही जानती थी?"

मृत्यु एक तथ्यके रूपमें तो इस पृथ्वीपर जितने जीवन हैं उन सभीके साथ लगायी गयी है, किन्तु प्रकृतिने इसको जिस मूल अर्थमें रखा था उसको छोड़कर मनुष्य इसे दूसरे ही अर्थमें समझते हैं। मनुष्य और मनुष्यके तलके अतिसमीपस्थ पशुओंकी चेतनामें मृत्युकी आवश्यकताका एक विशिष्ट रूप और एक विशिष्ट अर्थ हो गया है। परन्तु

इस निम्नतर प्रकृतिमें निहित जो अवचेतन ज्ञान है, जो इस अर्थको आश्रय दिये हुए है, वह है पुनर्नवता, परिवर्तन और रूपान्तरकी आवश्यकताका अनुभव।

पृथिवीपर जड़तत्त्वकी जो अवस्थाएं हैं उसके कारण ही मृत्यु अनिवार्य हो गयी है। जड़तत्त्वके विकासका सारा अर्थ ही यह है कि वह पहले जो उसकी अचेतन अवस्था थी उसको छोड़कर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेतनामें परिणत हो। और परिणत होनेकी इस प्रक्रियामें, जब कि यह सब यथार्थमें क्रियान्वित होने लगा, आकारोंका विनाश होना एक अपरिहार्य आवश्यकता हो गयी। कारण, संगठित व्यष्टिगत चेतनाको स्थायी सहारा देनेके लिये दृढ़प्रतिष्ठ रूपकी आवश्यकता हुई। और फिर आकारकी यह दृढ़प्रतिष्ठता ही है जिसने मृत्युको अपरिहार्य बना दिया। जड़तत्त्वको आकार धारण करने थे, कारण आकार-धारणके बिना जीवन-शक्तियों अथवा चेतनाकी शक्तियोंका व्यष्टिकरण तथा पिण्डरूप-ग्रहण असंभव होता और इनके बिना पार्थिव भूमिकापर संगठित अस्तित्वके लिये अपेक्षित प्रारंभिक अवस्थाओंका ही अभाव होता। परंतु आकार-परिमित और पिण्डरूपप्राप्त रचनाका यह स्वभाव है कि वह तुरंत कठोर, सख्त और पाषाणवत् बन जानेकी ओर प्रवृत होती है। व्यक्तिरूपप्राप्त आकार हर ओरसे बांध रखनेवाले सांचेके रूपमें स्थिर और कायम रहना चाहता है, वह शक्तियोंकी गतियोंका अनुसरण नहीं कर सकता, विश्वलीलाकी गतिशीलतामें जो परिवर्तन होते रहते हैं उनके साथ सामञ्जस्य रखकर वह अपनेको परिवर्तित नहीं कर सकता, प्रकृतिकी मांगोंको वह लगातार पूरी नहीं कर सकता और वह उसके साथ-साथ नहीं चल सकता, वह प्रवाहसे बाहर हो जाता है। आकार और उसपर दबाव डालनेवाली शक्तिके बीचमें जो यह उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती जाती हुई असमानता और असामञ्जस्य है वह जब एक विशिष्ट सीमाको पहुंच जाता है तब आकारको पूर्ण रूपसे नष्ट कर देना अनिवार्य हो जाता है। तब एक नये आकारकी सृष्टि करनी पड़ती है, एक नवीन सा-

मञ्जस्य और समानताको संभावित करना पड़ता है। मृत्युका सच्चा अर्थ यही है और प्रकृतिमें यही इसका उपयोग है। परन्तु आकार यदि अधिक फुरतीला और नमनशील बन सके और शरीरके अणुओंकी परिवर्तित होती हुई चेतनाके अनुसार जागृत किया जा सके तो ऐसे उग्र विनाशकी आवश्यकता नहीं होगी, मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायगी।

"किसीने कहा है कि प्रकृतिमें जो दुर्घटनाएं और विपर्यय होते हैं, जैसे कि भूकंप, भयंकर बाढ़ और महाद्वीपोंका जलमग्न हो जाना आदि, वे बेसुरी और पापपूर्ण मानवजातिके कारण ही होते हैं, और मानवजातिकी उन्नति और विकासके साथ-साथ भौतिक प्रकृतिमें भी तदनुरूप परिवर्तन हो जायगा—यह बात कहांतक सत्य है?"

इस विषयका सत्य शायद यह है कि विपत्तियों और विपर्ययसे आकीर्ण प्रकृतिमें तथा असामञ्जस्यपूर्ण मानव-जातिमें, दोनोंमें, चेतनाकी एक ही अभिन्न गति है जो अभिव्यक्त होती है। इन दोनोंमें कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है, बल्कि ये दोनों एक ही भूमिकापर स्थित हैं। इन दोनोंके ऊपर विद्यमान एक चेतना है जो पृथ्वीपर अभिव्यक्त और मूर्त्तिमान् होनेकी चेष्टा कर रही है, और पृथिवीकी ओर उसका जो अवतरण होता है उस क्रियामें वह सर्वत्र ही, अर्थात् मनुष्य और भौतिक प्रकृति, दोनोंको ही, समान रूपसे प्रतिरोध करते हुए पाती है। पृथिवीपर जो कुछ भी अव्यवस्था और असामञ्जस्य है वह इस प्रतिरोधका ही फल है। विपत्ति और विपर्यय, संघर्ष और हिंसा, अंधकार और अज्ञान—ये समस्त दोष इस एक ही स्रोतसे निकलते हैं। बाह्य प्रकृतिका कारण मनुष्य नहीं है, उसी तरह मनुष्यका कारण बाह्य प्रकृति नहीं है, बल्कि ये दोनों ही उस एक वस्तुपर निर्भर करते हैं जो इनके पीछे है, इनसे महान् है, और उस वस्तुको अभिव्यक्त करनेके लिये हो रही इस जड़प्राकृतिक जगत्की जो शाश्वत और प्रगतिशील गति है उसके ये दोनों ही अंश हैं।
अब, यदि पृथिवीमें कहींपर एक ऐसी ग्रहणशीलता जाग्रत हो जाय,

एक ऐसा उद्घाटन हो जाय जो अपनी पवित्रतामें भागवत चेतनाक किसी चीजको उतार लानेके लिये पर्याप्त हो तो जड़ जगत्‌में जो यह अवतरण या अभिव्यक्ति होगी वह केवल आंतरिक जीवनका ही रूपांतर नहीं करेगी बल्कि जड़प्राकृतिक अवस्थाओंका भी, मनुष्य और प्रकृतिमें जो भौतिक अभिव्यक्ति हो रही है, उसका भी रूपान्तर कर सकेगी। इस अवतरणका संभावित होना मानव-जातिकी सामूहिक अवस्थापर निर्भर नहीं करता। यदि हमको उस समयतक ठहरना पड़े जब कि मानव-जाति सामूहिक रूपसे सामञ्जस्य, एकता और अभीप्साकी एक ऐसी अवस्थाको प्राप्त हो जाय जो दिव्य प्रकाशको उतार लाने और जड़प्राकृतिक अवस्थाओंका रूपान्तर करनेके लिये काफी बलवान् हो, तब तो कुछ विशेष आशा नहीं रखी जा सकती। परन्तु कोई एक व्यक्ति अथवा एक छोटासा संघ या कुछ थोड़ेसे लोग इस अवतरणको प्राप्त करा सकें, ऐसी संभावना है। इस विषयमें संख्या अथवा विस्तार कोई महत्त्वकी बात नहीं है। भागवत चेतनाका एक बिंदु भी यदि पार्थिव चेतनामें प्रवेश कर जाय तो वह यहांकी हरेक वस्तुका रूपान्तर कर सकेगा।

चेतनाकी उच्चतर और निम्नतर भूमिकाओंमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित होने और इनके एक दूसरेमें मिल जानेका जो रहस्य है, वही महान् गुह्य है, गुप्त कुंजी है। इसमें रूपान्तर करनेकी शक्ति सदा ही रहती है, अंतर इतना ही है कि यहां वह शक्ति अधिक परिमाणमें होगी और उच्चतर अवस्थाको प्राप्त करायेगी। यदि पृथिवीपर कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसमें उस भूमिकाके साथ, जिसकी अभीतक यहां अभिव्यक्ति नहीं हुई है, सचेतन सम्बन्ध स्थापित करनेकी क्षमता हो और उस भूमिकामें ऊपर उठनेके द्वारा वह अपनी चेतनाके अंदर उस भूमिका और पार्थिव भूमिकाका मिलन कराकर उन्हें एक स्वरमें मिला सके, तो प्रकृतिके रूपान्तर करनेके जिस महान् कार्यका निश्चय किया जा चुका है, पर जो अभीतक बाकी पड़ा है, वह पूरा हो जायगा। एक नयी शक्ति अवतरण करेगी और पृथिवीपर अभी जो जीवन है उसका परिवर्तन कर देगी।

फिर भी, इतना तो है ही कि जब-जब किसी महान् आत्माका आविर्भाव हुआ है और उन्होंने सत्यकी किसी ज्योतिको प्रकट किया अथवा पृथिवीपर किसी नयी शक्तिका अवतरण कराया, तब-तब पृथिवीकी अवस्थाओंमें फेर-फार हुआ है, फिर चाहे यह परिवर्तन बिलकुल उस प्रकारसे न भी हुआ हो जैसी कि उसके द्वारा आशा और प्रतीक्षा की गयी थी। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति, जिसने ज्ञान, चेतना और आध्यात्मिक अनुभूतिकी अमुक भूमिकाको प्राप्त किया है, आया और कहा कि 'मैं तुम्हारे लिये मुक्ति ला रहा हूं।' अथवा यह कहा कि 'मैं तुम्हारे लिये शान्ति ला रहा हूं।' अब जो लोग उसके इर्दगिर्द थे उन्होंने शायद यह समझा कि वह उस वस्तुको स्थूल रूपमें ला रहा है, किन्तु जब उन्होंने देखा कि उन्होंने जैसा सोचा था वैसा कुछ भी नहीं हुआ, तब वे उस व्यक्तिकी कृतिको समझ न सके। उसने जो कुछ किया था वह तो चेतनाका एक परिवर्तन था, एक ऐसी शान्ति थी जिसको लोग अभीतक नहीं जानते थे, अथवा वह मुक्तिलाभ करनेकी एक ऐसी क्षमता थी जो लोगोंमें पहले नहीं थी। परन्तु ये सब जो क्रियाएं हुईं वे आंतर जीवनसे सम्बन्ध रखती थीं और इनसे जगत्के बाह्य रूपमें कोई दृश्य परिवर्तन नहीं हुआ। सम्भव है कि जगत्के बाह्य स्वरूपका पविर्तन करनेकी उसकी इच्छा ही न रही हो, हो सकता है कि ऐसा करनेके लिये उसके पास आवश्यक ज्ञान न हो, पर फिर भी इस प्रकारके पथप्रदर्शक जगत्में कुछ कर गये हैं।

पृथिवीका बाह्य स्वरूप सब प्रकारसे विपरीत दिखायी देनेपर भी, यह अच्छी तरहसे कहा जा सकता है कि पृथिवी किसी विशिष्ट साक्षात्कारके लिये क्रमशः धीरे-धीरे तैयार हो रही है। मानव-सभ्यतामें और प्रकृतिमें कुछ परिवर्तन हुआ है। यदि यह प्रत्यक्ष रूपसे दिखायी नहीं देता है तो इसका कारण यह है कि हम लोग इस विषयको केवल बाह्य दृष्टिकोणसे ही देखते हैं और यह कि जड़तत्त्व और उसकी कठिनाइयोंका सामना अभीतक गंभीरतापूर्वक और सम्यक् रूपसे नहीं किया गया है। फिर भी आंतरिक प्रगति हुई है, आंतर चेतनामें दिव्य ज्योतिके अवतरण हुए हैं। परंतु जड़तत्त्वमें कोई उपलब्धि हुई है

या नहीं, इसके बारेमें कुछ भी कहना कठिन है, कारण वहां जो कुछ हो चुका होगा उसको हम लोग ठीक-ठीक नहीं जानते हैं।

अतिप्राचीन कालमें महान् और सुन्दर सभ्यताएं हो चुकी हैं, जिनकी भौतिक अवस्था संभवतः वर्तमान कालके जितनी ही उन्नत थी। एक विशिष्ट दृष्टिकोणसे देखनेपर यह ज्ञात हो सकता है कि अत्यन्त आधुनिक सभ्यता अत्यन्त प्राचीन सभ्यताकी पुनरावृत्तिमात्र ही है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कहींपर कोई प्रगति हुई ही नहीं है। कम-से-कम यह तो हुआ ही है कि हमारी आंतरिक प्रगति हुई है और हमारे जड़प्राकृतिक अंगोंमें उच्चतर चेतनाके आवाहनका प्रत्युत्तर देनेकी तत्परता अधिक परिमाणमें जागृत हो गयी है। बार-बार एक ही क्रियाको इसलिये दोहराना पड़ा है कि जिस बातका प्रयास किया गया था वह कभी भी पर्याप्त रूपमें नहीं किया गया। परंतु प्रत्येक बार वह पर्याप्त रूपमें किये जानेके समीप पहुंच रहा है। किसी कसरतको जब हम बारंबार करते हैं तब हमें यह मालूम होता है कि हम सदा एक ही चीजकी पुनरावृत्ति कर रहे हैं, किंतु यह होते हुए भी उसके एकत्रीभूत परिणामको देखनेपर यह मालूम होता है कि उस क्रियाके फलस्वरूप बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है।

भूल यह होती है कि इन बातोंको हम मानव-चेतनाके सीमित परिमाणोंके द्वारा देखते हैं। और इस तरह देखी गयी ये गहन और विशाल गतियां समझमें नहीं आतीं। मर्यादित मानव-बुद्धिद्वारा इनको समझने या इनकी व्याख्या करनेका प्रयत्न करना खतरनाक है। यही कारण है कि दर्शनशास्त्र जगत्के रहस्यका उद्घाटन करनेमें सदा असफल रहा है। यह इसलिये कि उसने इस विश्वको मानव-मनके छोटेसे ढांचेके अंदर बैठा देनेकी चेष्टा की है।

"हममेंसे कितने ऐसे हैं जिन्हें अपने पूर्वजन्मोंकी स्मृति है?"

सभीके अंदर, हमारी चेतनाके एक भागमें, यह स्मृति रहती है।

परंतु यह एक खतरनाक विषय है, कारण मानव-मनको अद्भुत-अद्भुत कहानियोंका बड़ा शौक होता है। जैसे ही उसको पुनर्जन्म-के सत्यके बारेमें कुछ ज्ञात होता है, वैसे ही वह इसके चारों ओर एक सुन्दर कहानी गढ़ डालना चाहता है। इस सृष्टिकी रचना किस प्रकार हुई, भविष्यमें इसकी क्या गति होगी, तुम पहले कैसे और कहां जन्मे थे और आगे क्या होओगे, कैसे-कैसे जीवन तुमने बिताये हैं और अब कैसे-कैसे जीवन बिताओगे, इन बातोंके विषयमें अद्भुत-अद्भुत कहानियां कहनेवाले तुम्हें बहुतसे लोग मिलेंगे। परंतु इन सबसे आध्यात्मिक जीवनका कुछ संबंध नहीं। पूर्वजन्मोंकी सच्ची स्मृति पूर्ण ज्ञानका एक अंग अवश्य हो सकती है, किंतु इस ज्ञानकी प्राप्ति इस प्रकारकी सुन्दर-सुन्दर कल्पना-तरंगोंसे संभव नहीं। यह ज्ञान यदि एक ओरसे विषयाश्रित है तो दूसरी ओरसे यह बहुत कुछ व्यक्तिगत और विषयीभूत अनुभूतिपर निर्भर करता है और यहींपर बनावट और विकार पैदा करने तथा असत्य रचनाओंको गढ़ डालनेकी संभावना रहती है। इन बातोंके सत्यतक पहुंचनेके लिये यह आवश्यक है कि अनुभव ग्रहण करनेवाली तुम्हारी जो चेतना है वह शुद्ध और निर्मल हो, किसी भी मनोमय या प्राणमय हस्तक्षेपोंसे स्वतंत्र हो और तुम्हारी व्यक्तिगत धारणाओं और भावुकताओंसे तथा अपने ही तरीकेसे समझाने या व्याख्या करनेकी मनकी जो आदत है उससे, मुक्त हो। पूर्वजन्मोंका जो अनुभव होता है वह सत्य हो सकता है, किंतु तुमने जो कुछ देखा और तुम्हारे मनने उसकी जो कुछ व्याख्या की अथवा उसका जो रूप गढ़ा, इन दोनोंके बीचमें एक बड़ी भारी खाई होती ही है। जब तुम मानव-भावनाओंसे ऊपर उठ सकोगे और अपने मनसे अलग हो सकोगे तभी यह हो सकता है कि तुम इस सत्य-तक पहुंच सको।

६

"कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो पिशाचों-जैसे लगते हैं, वे क्या हैं और वे इस तरहके क्यों हैं ?"

वे मनुष्य नहीं होते, उनका केवल रूप या दिखाव ही मनुष्यके जैसा होता है। ये लोग भौतिक जगत्के बाद ही जो अगला लोक है, जिसे हम प्राणलोक कहते हैं, वहांकी सत्ताओंके मूर्त्त रूप होते हैं। इसी प्राणलोकमें समस्त इच्छाओं, आवेगों और आवेशोंका तथा हिंसा, लालच और धूर्त्तता एवं हर प्रकारके अज्ञानकी गतियोंका निवास है, किंतु समस्त गतिशीलता, समस्त जीवन-शक्तियां और सामर्थ्य भी यहींपर है। इस जगत्की सत्ताएं स्वभावतः ही कुछ ऐसी होती हैं, जिसके कारण वे हमारे इस जड़प्राकृतिक जगत्को विचित्र रूपसे अपने वशमें रख सकती हैं, वे इस जगत्पर अपने दुष्ट प्रभावका प्रयोग कर सकती हैं। इनमेंसे कुछ सत्ताएं मनुष्यकी सत्ताके उन अवशेषोंसे बनी होती हैं जो उनके मर जानेके बाद भी पार्थिव भूमिकाके समीपस्थ जो प्राणमय वातावरण है उसमें जमे रहते हैं। मनुष्यकी इच्छाएं और लालसाएं मृत्युके बाद भी प्राणमय भूमिकापर तैरती रहती हैं और शरीरके नष्ट हो जानेके बाद भी इनका एक रूप बना रहता है। बहुधा ये अभिव्यक्त होने और अपनेको संतुष्ट करनेके लिये प्रवृत्त होती रहती हैं और इस प्रवृत्तिका ही परिणाम है प्राणमय जगत्के इन जंतुओंका जन्म। परंतु ये तो एक मामूली प्रकारके जंतु ही हैं और यद्यपि ये अत्यन्त दुःखदायी हो सकते हैं तथापि इनका मुकाबला

करना असम्भव नहीं होता। इनसे भी अधिक भयंकर दूसरी-दूसरी सत्ताएं हैं जो कभी भी मानवरूपमें प्रकट नहीं हुईं। वे कभी भी मनुष्य-शरीर धारण करके पृथिवीपर नहीं जन्मी, कारण, इस प्रकारका जन्म ग्रहण करनेसे वे सदा इनकार करती हैं, क्योंकि इस प्रकारके जीवनमें जड़तत्त्वकी गुलामी करनी पड़ती है और इसलिये वे अपने ही जगत्में–जहां वे बलवान् हैं और दूसरोंको सता सकती हैं–रहना और वहींसे पार्थिव सत्ताओंपर अधिकार करना अधिक पसंद करती हैं। क्योंकि यद्यपि वे पृथिवीपर जन्म लेना नहीं चाहतीं तथापि वे यह अवश्य चाहती हैं कि उनका भौतिक प्रकृतिसे, उसके बंधनमें आये बिना ही, सम्बन्ध बना रहे। उनका तरीका यह है कि पहले तो वे किसी मनुष्यपर अपना प्रभाव जमानेका प्रयत्न करती हैं, फिर वे धीमे-धीमे उस मनुष्यके वातावरणमें घुस आती हैं और अंतमें वे उसके वास्तविक मानव-आत्मा और व्यक्तित्वको सर्वथा बाहर निकालकर उसको पूर्ण रूपसे अपने अधिकारमें कर ले सकती हैं। ये सत्ताएं जब किसी मनुष्य-शरीरपर अधिकार किये हुए होती हैं तब उनका रूप तो मनुष्योंके जैसा हो सकता है, पर उनका स्वभाव मनुष्योंके जैसा नहीं होता। मनुष्योंकी प्राण-शक्तियोंको चूसते रहना, यह उनकी आदत होती है। जहां कहीं भी सम्भव हो वहीं वे मनुष्यकी प्राण-शक्तिपर हमला करके उसको अपने कब्जेमें कर लेती और उसके द्वारा अपना जीवन निर्वाह करती हैं। यदि ये सत्ताएं तुम्हारे वातावरणमें आ जायं तो तुम एकाएक उदास और क्लांत हो जाओगे, यदि कुछ कालतक तुम उनके समीप रहो तो बीमार पड़ जाओगे और इस प्रकारकी किसी सत्ताके साथ यदि तुम रहने लगो तो सम्भव है कि वह तुमको मार ही डाले।

"परंतु ये सत्ताएं यदि किसीके वातावरणमें घुस चुकी हों तो वहां-से इनको निकाल बाहर कैसे किया जाय?"

इन सत्ताओंमें समायी हुई प्राण-शक्ति बिलकुल स्थूलभौतिक प्रकार-

की होती है और उसका असर केवल थोड़ी दूरतक ही पड़ता है। साधारणतया, यदि तुम जहां ये हों ऐसे एक ही मकानमें नहीं रहते होओ या जिस जमातमें ये हों उसमें सम्मिलित नहीं होते होओ, तो तुम इनके प्रभावमें नहीं आ सकते। परन्तु यदि तुम उनके साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध या संसर्ग स्थापित करनेके लिये कोई रास्ता खोल दो, उदाहरणार्थ, उनसे पत्रव्यवहार करो तो तुम इन शक्तियोंके साथ आदान-प्रदान होना सम्भव कर देते हो, और तब यह हो सकता है कि बहुत दूरसे भी ये तुमपर अपना प्रभाव जमा सकें। सबसे बड़ी बुद्धिमानी इसीमें है कि इन सत्ताओंसे जो कुछ भी सम्बन्ध हो उसे काट दिया जाय और इनसे किसी तरहका सरोकार न रखा जाय—हां, यदि तुम्हारे पास बहुत अधिक गुह्य ज्ञान या प्रचण्ड शक्ति हो और यदि तुमने अपनी रक्षा और बचाव करना सीख लिया हो तो दूसरी बात है—किन्तु तब भी इनके साथ रहना सदा खतरनाक होता है। इनको रूपान्तरित कर देनेकी आशा रखना, जैसा कि कुछ लोग रखते हैं, एक निष्फल मोह है, क्योंकि ये रूपान्तरित होना चाहती ही नहीं। किसी प्रकारके रूपान्तरके लिये सहमति देनेकी उनकी इच्छा ही नहीं है और इस सम्बन्धमें कोई भी प्रयास करना निरर्थक है।

ये सत्ताएं जब मनुष्यशरीरके अंदर आयी हुई होती हैं तब बहुधा उन्हें इस बातकी चेतना नहीं होती है कि वास्तवमें वे कौन हैं। हां, कभी-कभी उन्हें एक धुंधलीसी प्रतीति होती है कि साधारण अर्थमें जिसको मनुष्य कहा जाता है सो तो वे नहीं हैं। फिर भी कुछ ऐसी सत्ताएं हैं जिन्हें मनुष्य-शरीरके अंदर होते हुए भी अपने स्वरूपका भलीभांति ज्ञान रहता है, वे केवल इतना ही नहीं जानतीं कि वे मनुष्य नहीं हैं, बल्कि वे यह भी जानती हैं कि वे कौन हैं और अपने इस ज्ञानके अनुसार ही वे कार्य करती हैं और लगातार अपने उद्देश्यको पूरा करनेमें लगी रहती हैं। प्राणमय जगत्की सत्ताएं स्वभावतः ही बड़ी बलवान् होती हैं और इस बलके साथ जब कुछ ज्ञान जुड़ जाता है तब तो वे दूनी भयंकर हो जाती हैं। इन प्राणियोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना

चाहिय और यदि इनको कुचल डालने और इन्हें नष्ट कर देनेकी शक्ति तुममें न हो तो तुमको इनके साथ किसी भी प्रकारका व्यवहार नहीं रखना चाहिये। और यदि तुमको लाचार होकर इनके साथ कभी किसी सम्बन्धमें आना पड़े तो ये तुम्हारेपर जो जादू फेंक सकती हैं उससे तुम्हें बहुत ही सावधान रहना चाहिये। प्राणमय जगत्‌की ये सत्ताएं जब भौतिक भूमिकापर आविर्भूत होती हैं तब उनमें सदा वशीकरणकी एक बड़ी भारी शक्ति होती है, कारण उनकी चेतनाका केंद्र प्राणमय जगत्‌में होता है, भौतिक जगत्‌में नहीं और वे मनुष्यकी तरह भौतिक चेतनाद्वारा आच्छादित और आकुंचित की हुई नहीं होतीं।

"क्या यह ठीक नहीं है कि ये सत्ताएं आध्यात्मिक जीवनकी ओर एक विचित्र प्रकारका आकर्षण रखती हैं?"

हां, यह ठीक है। इसका कारण यह है कि वे ऐसा अनुभव करती हैं कि वे इस जगत्‌की रहनेवाली नहीं हैं, बल्कि किसी दूसरे स्थानसे यहां आयी हुई हैं, और वे यह भी अनुभव करती हैं कि उनके पास बल है, जिसके अर्द्धभागको उन्होंने गंवा दिया है और अब उस खोये हुए बलको पुनः प्राप्त करनेके लिये वे उत्सुक होती हैं। इसलिये जब कभी वे किसी ऐसे व्यक्तिसे मिलती हैं जो उन्हें सूक्ष्म जगत्‌का ज्ञान दे सके तो वे उसकी ओर दौड़ पड़ती हैं। परन्तु प्राणमय जगत्‌को ही वे भूलसे आध्यात्मिक जगत् समझ लेती हैं और उनका हेतु भी आध्यात्मिक सिद्धिको प्राप्त करना नहीं होता, बल्कि प्राणमय शक्तिको प्राप्त करना होता है। अथवा वे शायद जान-बूझकर आध्यात्मिकताको कलुषित करनेका प्रयत्न करती हैं और चाहती हैं कि उनके अपने स्वभावके सांचेमें ढली हुई, आध्यात्मिक सृष्टिकी जैसी एक नकली सृष्टि खड़ी कर दें। परन्तु अपने इस प्रयासमें भी वे अपने ढंगसे, आध्यात्मिक जीवनको एक प्रकारकी श्रद्धांजलि ही भेंट करती हैं अथवा उसका ऋण चुकाती हैं। और उनमें आध्यात्मिकताके प्रति एक प्रकारका आकर्षण भी होता ही

है जो उन्हें इस ओर झुकनेके लिये विवश करता है। उन्होंने भगवान्के शासनके प्रति विद्रोह किया हुआ है, किन्तु इस विद्रोहके होते हुए भी, या सम्भवत: इस विद्रोहके कारण ही, वे भगवान्के साथ अपने-आपको किसी-न-किसी रूपमें बंधा हुआ अनुभव करती हैं और उनके प्रति प्रबल रूपसे आकृष्ट हो जाती हैं।

यही कारण है कि तुम कभी-कभी ऐसा होता हुआ देखते हो कि जिन लोगोंको पृथिवीपर आध्यात्मिक जीवन सिद्ध करना है उनमें आपसमें सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये ये सत्ताएं करणरूपसे उपयोगमें लायी जाती हैं। यह काम वे स्वेच्छासे नहीं करतीं बल्कि यह उन्हें बाध्य होकर करना पड़ता है। यह एक प्रकारका ऋण-परिशोधन है जिसको वे पूरा करती हैं। कारण जो दिव्य ज्योति अवतरित हो रही है उसका दबाव उन्हें भी अनुभव होता है, उन्हें इस बातका आभास मिलता है कि अब वह समय आ गया है, अथवा शीघ्र ही आनेवाला है, जब कि उन्हें रूपान्तर या लय, इन दोनोंमेंसे एकको पसंद कर लेना होगा, उन्हें यह चुन लेना होगा कि भागवत संकल्पके प्रति अपने-आपको समर्पण करें और इस महान् योजनामें योगदान कर अपना पार्ट अदा करें अथवा अचेतनामें डूबकर विनाशको प्राप्त हों। सत्यके जिज्ञासु-के सम्पर्कमें आनेसे इस प्रकारकी सत्ताओंको परिवर्तित होनेका अवसर प्राप्त होता है। सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि वे इस अवसर-का किस प्रकार उपयोग करती हैं। यदि इसका उपयोग वे उचित रूपमें करें तो मिथ्यापन, अंधकार और क्लेशसे—ये ही तत्त्व हैं जिनसे ये प्राणमय सत्ताएं बनी होती हैं—मुक्तिलाभ करनेके अपने मार्गको वे परि-ष्कृत कर सकती हैं, और उनको एक नवजीवन और दिव्य जन्म प्राप्त हो सकता है।

"क्या इन सत्ताओंका धन-शक्तिपर बहुत बड़ा अधिकार नहीं है?"

धन-शक्ति इस समय प्राणमय जगत्की शक्तियों और सत्ताओंके

प्रभाव या कब्जेमें है। यही कारण है कि धनका उपयोग सत्यकी सेवाके लिये प्रचुर परिमाणमें होता हुआ कभी भी दिखायी नहीं देता। यह शक्ति सदा विपथगामिनी रहती है, कारण यह विरोधी शक्तियोंके पंजेमें पड़ी हुई है, और जिन साधनोंके द्वारा प्राणमय जगत्की ये शक्तियां पृथिवीपर अपना कब्जा रखती हैं उनमें यह धन-शक्ति एक प्रमुख साधन है। धन-शक्तिपर विरोधी शक्तियोंका जो अधिकार है वह मजबूतीके साथ, पूरे तौरपर और अच्छी तरह संगठित है और इस संहत संगठनसे कुछ भी निकाल लाना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। प्रत्येक बार जब तुम इस धनका कुछ थोड़ासा भाग भी इसके वर्तमान संरक्षकोंके हाथोंमेंसे निकालकर ले आना चाहते हो तभी तुम्हें एक भीषण युद्ध करना पड़ता है।

यह होते हुए भी, धन-शक्तिपर जिनका कब्जा है ऐसी विरोधी शक्ति-योंपर कहीं भी कोई विजय प्राप्त हो जानेसे दूसरे-दूसरे क्षेत्रोंपर आप-ही-आप और साथ-ही-साथ विजय प्राप्त करना सम्भव हो जायगा। यदि किसी एक स्थानपर ये शरणागत हो जायं तो वे सभी जो आज सत्यकी सेवाके लिये धन देनेमें असमर्थता अनुभव करते हैं, धन देनेके लिये हठात् एक महान् और तीव्र इच्छाका अनुभव करेंगे। वे अमीर आदमी जो कम या अधिक मात्रामें प्राण-शक्तियोंकी कठपुतली या यंत्र बने हुए हैं, धन खर्च करनेको ही अनिच्छुक हों ऐसी कोई बात नहीं है, असलमें उनकी लोभवृत्ति तो तब जाग्रत होती है जब उनकी प्राणमय वासनाओं या तृष्णाओंके अतिरिक्त और किसी कामके लिये धन खर्च करनेका प्रश्न उठता है। कारण जिसको वे अपनी समझते हैं ऐसी किसी वासनाकी तृप्तिके लिये तो वे धन व्यय करनेको सदा तैयार रहते हैं, किन्तु जब उन्हें अपने आराम और धनके लाभको दूसरोंके साथ बांट लेनेके लिये कहा जाता है तब उनको अपने धनकी मुट्ठी ढीली करनेमें कष्ट होता है। धनपर नियन्त्रण रखनेवाली प्राण-शक्ति एक ऐसे अभिभावककी तरह है जो अपने धनको सदा एक बड़ी भारी तिजोरीके अंदर अच्छी तरह बंद किये रहता है। इस शक्तिके पंजेमें जो लोग हैं उनसे जब

कभी भी कुछ धन देनेके लिये कहा जाता है तभी ये लोग अपनी थैलीके मुंहको थोड़ासा भी खोलनेके लिये राजी होनेसे पहले खोज-खोजकर नाना प्रकारके सवाल पूछते हैं, किंतु यदि स्वयं इनके अंदर किसी प्राणमय तृष्णाकी मांग उठ खड़ी होती है तब यह अभिभावक अपने धनागारको बड़ी खुशीके साथ खोल देता है और इस कामके लिये उसका धन स्वच्छंद रूपसे पानीकी तरह बहने लगता है। साधारणतया जिन प्राणगत वासनाओंकी आज्ञाओंका वह पालन करता है उनका संबंध काम-वासनाकी तृष्णासे रहता है, किंतु बहुधा वह ख्याति और मान-मर्यादाकी वासना, आहारकी वासना अथवा प्राणमय भूमिकापरकी इस प्रकारकी किसी भी वासनाकी आज्ञाओंका भी पालन करता है। जो कुछ उपर्युक्त श्रेणीके अंदर नहीं होता उसके बारेमें बारीकीके साथ खोज-खोजकर सवाल किये जाते हैं, उसकी अच्छी तरह छानबीन की जाती है और उसकी उपयोगिताको बड़ी आनाकानीके साथ स्वीकार भी कर लिया जाता है, किंतु फिर भी अंतमें प्रायः सहायता करनेसे इनकार ही कर दिया जाता है। जो लोग प्राणमय सत्ताओंके गुलाम हैं उनके अंदर सत्य और प्रकाश और आध्यात्मिक प्राप्तिकी इच्छाका यदि कभी स्पर्श होता भी है तो भी उनकी वह इच्छा धनके प्रति उनकी जो इच्छा है उसकी बराबरी नहीं कर पाती। उनके हाथोंसे धनको भगवान्के लिये जीतकर ले आनेका अर्थ है, उनके अंदर जो राक्षस घुसा पड़ा है उसको मार भगाना। पहले तो तुम्हें उनके उस प्राणमय स्वामीको, जिसकी वे गुलामी करते हैं, या तो जीत लेना होगा या उसे भगवत्परायण बना लेना होगा, और यह काम सहज नहीं है। जो लोग प्राणमय सत्ताओंके कब्जेमें हैं वे यदि अपने आरामतलबीके जीवनको बदल भी दें, भोगोंका त्याग भी कर दें और बिलकुल कठोर वैरागी भी बन जायं, तो भी वे पहलेके समान ही दुष्ट बने रह सकते हैं, यहांतक कि इस परिवर्तनसे वे पहलेकी अपेक्षा और भी अधिक बुरे बन जायं यह हो सकता है।

"कोई एक व्यक्ति अपनी संकल्प-शक्तिका प्रयोग किसी दूसरे व्यक्तिपर करे, ऐसा क्यों होने दिया जाता है ?"

ऐसी बात नहीं है कि किसी मनुष्यको दूसरे मनुष्यपर उसकी संकल्प-शक्तिका प्रयोग करने दिया जाता हो, बल्कि बात यह है कि एक विश्वव्यापक संकल्प-शक्ति है और जो लोग इस शक्तिको, कम या अधिक मात्रामें, अभिव्यक्त करनेमें समर्थ होते हैं उनकी संकल्प-शक्ति अधिक बलवान् होती है । यह बात प्राण-शक्ति अथवा प्रकाश या बिजली या प्रकृतिकी अन्य किसी भी शक्तिके जैसी है, कुछ इन शक्तियोंको व्यक्त करनेके अच्छे वाहन या करण होते हैं तो दूसरे अत्यन्त मामूली। यहांपर नैतिकताका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यह प्रकृतिका तथ्य है, इस महान् लीलाका एक कानून है।

"क्या कोई प्राणमय जगत्की सत्ताओंसे, उनके अपने देशमें भेंट कर सकता है ?"

प्राणमय सत्ताएं उस अतिभौतिक जगत्में भ्रमण करती हैं जहां मानव-प्राणी यदि संयोगवश जा पहुंचे तो वहां वह अपनेको निराधार, असहाय और रक्षाविहीन अनुभव करता है। मनुष्य तो स्थूल शरीरमें ही अपने घरमें है और वहां ही वह सुरक्षित है; शरीर उसका रक्षा-कवच है । कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने शरीरको बुरी तरह कोसते हैं और यह समझते हैं कि मृत्युके बाद जब स्थूल शरीर नहीं रह जायगा तब उनकी दशा बहुत कुछ सुधर जायगी और उनका जीवन सहज हो जायगा । परंतु वास्तवमें स्थूल शरीर तुम्हारा किला और तुम्हारा आश्रय-स्थल है । जबतक तुम इस किलेके अंदर हो तबतक विरोधी जगत्की शक्तियोंको तुम्हारे ऊपर किसी तरहका कब्जा करनेमें कठिनाई होती है। बहुतसे लोगोंको रातमें जो डरावने स्वप्न होते हैं वे क्या हैं ? वे तुम्हारे प्राणमय जगत्में

भटकनेके परिणाम हैं। और जब तुम इस प्रकारकी स्वप्नकालीन डरावनी अवस्थामें होते हो तब तुम सर्वप्रथम क्या करनेकी चेष्टा करते हो? तुम अपने स्थूल शरीरमें दौड़ आते हो और अपनी साधारण भौतिक चेतनामें समाकर होश संभालते हो। परंतु प्राणमय शक्तियोंके जगत्में तुम एक अजनबीकी तरह हो, यह जगत् एक मार्गहीन समुद्रकी तरह है जिसको पार करनेके लिये तुम्हारे पास न तो दिग्दर्शक यंत्र है न पतवार। न तो तुम यह जानते हो कि इसमें कैसे चलना चाहिये, न यही कि किधरकी ओर चलना चाहिये और प्रत्येक पदपर तुम वही करते हो जो तुम्हें नहीं करना चाहिये। जैसे ही तुम इस जगत्के किसी भी राज्यमें प्रवेश करते हो वैसे ही वहांकी सत्ताएं तुम्हारे चारों ओर जमा हो जाती हैं और तुम्हें घेरकर जो कुछ भी तुम्हारे पास हो उसको रखवा लेना, तुमसे जो कुछ चूस सकें उतना चूस लेना और तुम्हारी इस संपत्तिको अपना आहार और शिकार बना लेना चाहती हैं। यदि तुम्हारे अंदरसे कोई तीव्र ज्योति और शक्ति तुम्हें प्रकाश देनेके लिये वहां न हो तो स्थूल शरीरके बिना इस जगत्में तुम इस प्रकार फिरते हो मानो अत्यन्त सर्द और ठिठुरा देनेवाले वातावरणसे अपनेको बचानेके लिये तुम्हारे पास एक कोट भी न हो, एक मकानतक न हो जो तुम्हें आश्रय दे सके, तुम्हारी त्वचातक तुमको ढांके हुए न हो, तुम्हारी स्नायुएं खुली हुई और उघड़ी हुई हों। कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो कहते हैं कि 'इस शरीरमें मैं कितना दुःखी हूं', और मृत्युको इस दुःखसे छुटकारा पानेका एक साधन मानते हैं! किंतु मृत्युके बाद तुम्हें वे ही प्राणमय परिस्थितियां मिलती हैं और उन्हीं शक्तियोंका खतरा रहता है जिनके कारण तुम इस जीवनमें क्लेश पाते थे। स्थूल शरीरका छूट जाना तुमको प्राणमय जगत्के बिलकुल खुले मैदानोंमें चले जानेके लिये बाध्य कर देता है। और अब तुम्हारे पास अपनी रक्षाके लिये कोई साधन नहीं होता, स्थूल शरीर तो अब है ही नहीं जहां तुम अपनेको बचानेके लिये दौड़ जाओ।

यहां ही, इस पृथ्वीपर ही, इस शरीरमें ही तुम्हें पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये तथा भरपूर और संपूर्ण शक्तिका प्रयोग करना सीख लेना चाहिये। जब तुम यह कर चुकोगे तभी तुम समस्त जगतोंमें कुशल-क्षेमके साथ स्वतंत्रतापूर्वक घूम सकोगे। जब तुमपर भयका लेशमात्र भी असर न हो सके, उदाहरणार्थ, जब तुम बुरे-से-बुरे डरावने स्वप्नोंके बीच भी अविचलित रह सको, तभी तुम यह कह सकते हो कि 'अब मैं प्राणमय जगत्में जानेके लिये तैयार हो गया हूं।' परंतु इसका यह अर्थ होता है कि तुमने उस ज्ञान और शक्तिको पा लिया है जो प्राण-प्रकृतिकी तृष्णाओं और कामनाओंपर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जानेपर ही मिलते हैं। उन सभी चीजोंसे, जो तुममें अज्ञान अंधकारकी सत्ताओंको ले आ सकती हों अथवा जिनके कारण इन सत्ताओंका तुमपर प्रभुत्व स्थापित होना संभव हो, तुम्हें पूर्ण रूपसे मुक्त हो जाना चाहिये। यदि तुम इन सबसे मुक्त नहीं हुए हो तो सावधान!

कोई आसक्ति न हो, कोई कामना न हो, कोई आवेग न हो, कोई पसंद न हो; पूर्ण समता हो, अचल शांति हो और भागवत संरक्षणमें अटल श्रद्धा हो,–ये सब यदि हैं तो तुम सुरक्षित हो और यदि ये नहीं हैं तो तुम जोखिममें हो। और जबतक तुम सुरक्षित नहीं हो तबतक तुम्हें ठीक उसी तरह करना चाहिये जैसा कि मुर्गीका बच्चा करता है, वह अपनी मांके डैनोंके नीचे आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाता है।

"स्थूल भौतिक शरीर हमारे संरक्षणका कार्य किस प्रकार करता है?"

स्थूल शरीर अपनी स्थूलताके कारण ही, जिस चीजके लिये हम उसको दोष देते हैं उसी चीजके द्वारा ही, हमारे संरक्षणका कार्य करता है। यह मंद है, जड़ है, स्थल है, कठिन और कठोर है,

एक ऐसे किलेकी तरह है जो मजबूत और ठोस दीवारोंसे घिरा हुआ हो। प्राणमय जगत् एक तरल प्रवाहकी तरह है, वहां वस्तुएं स्वच्छंद रूपसे घुमती-फिरती, परस्पर मिलती-जुलती और एक दूसरे-में प्रविष्ट होती रहती हैं, उसी तरह जिस तरह समुद्रकी लहरें आपसमें अनवरत प्रवाहित, परिवर्तित और प्रविष्ट होती रहती हैं। यदि तुम्हारे अपने अंदर कोई प्रबल ज्योति या शक्ति इस जगत्की तरलताका सामना करनेके लिये न हो तो प्राणमय जगत्-के इस प्रवाहके अंदर तुम्हारी अवस्था एक निःसहाय मनुष्यकी-सी होती है। उपर्युक्त ज्योति और शक्ति यदि न हों तो यह प्रवाह तुम्हारे अन्दर आ घुसता है और उसके आक्रामक प्रभावको रोकने-के लिये तुम्हारे पास कुछ नहीं होता। परंतु स्थूल शरीर बीचमें पड़कर तुम्हारी रक्षा करता है, यह तुम्हें प्राणमय जगत्से अलग कर देता है और उस जगत्की शक्तियोंके बाढ़के समय तुम्हारे लिये एक बांधका काम देता है।

"परंतु प्राणमय जगत् यदि इतना ही तरल है तो वहांके रूपोंमें फिर कोई व्यक्तित्व रहता है क्या?"

हां, वहां व्यक्तित्व है, अंतर इतना ही है कि उनके रूप स्थूल देह-धारी सत्ताओंके जितने निश्चित और कठोर नहीं होते। व्यक्तित्वका अर्थ अनमनीय कठोरता नहीं है। पत्थरका रूप बहुत ही सख्त है, शायद सबसे अधिक सख्त है, किन्तु उसमें व्यक्तित्व नहींके बराबर है। दस या बीस पत्थरोंको एक साथ इकट्ठे कर लो और फिर यदि उनको एक-दूसरेसे भेद करके जानना चाहो तो तुम्हें बहुत ही सावधान होना होगा। परन्तु प्राणमय सत्ताओंको पहली नजरमें ही एक-दूसरेसे पृथक् करके जाना जा सकता है। उनके आकारकी बनावटके प्रकारभेदके द्वारा, वे जो वातावरण अपने साथ लिये रहती हैं उसके द्वारा और प्रत्येक सत्ता जिस ढंगसे चलती-फिरती, बातें करती तथा क्रिया करती है उसके

द्वारा, तुम उनको पृथक्-पृथक् करके जान सकते हो। जैसे मनुष्य जब प्रसन्नता या क्रोधकी अवस्थामें होता है तो उसीके अनुसार उसके मुखकी आकृति बदल जाती है, वैसे ही इनके मिजाजके बदलनेपर इनकी आकृति भी बदल जाती है, किंतु प्राणमय जगत्में यह परिवर्तन अधिक तीव्र होता है। केवल उनके मुखकी अभिव्यक्ति ही नहीं, बल्कि उनके चेहरेका आकार ही बदल जाता है।

७

"विचारके अंदर जो शक्ति है वह किस कोटिकी है? क्या प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने जगत्का कर्त्ता है, यदि हां तो कैसे और किस हदतक ?"

बौद्धमतके अनुसार, प्रत्येक मनुष्य अपने ही रचे हुए जगत्में रहता और विचरण करता है, उसका यह जगत् दूसरे मनुष्यके जगत्से सर्वथा स्वतंत्र होता है; और इन विभिन्न जगतोंमें जब एक प्रकारका सामंजस्य हो जाता है केवल तभी ये जगत् एक दूसरेमें अंतःप्रविष्ट हो सकते हैं और तभी मनुष्य परस्पर संपर्कमें आते और एक दूसरेके विचारोंको समझ सकते हैं। जहांतक मनसे संबंध है वहांतक यह बात ठीक है, कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने ही मानसिक जगत्में, जो उसके अपने ही विचारोंद्वारा सृष्ट किया हुआ होता है, विचरण करता रहता है। यह बात यहांतक सच है कि सदा ही जब कभी कोई बात कही जाती है तब प्रत्येक व्यक्ति उस एक ही बातको विभिन्न रूपमें समझता है, क्योंकि जो कुछ कहा गया है उसको वह ग्रहण नहीं करता, बल्कि वह किसी ऐसी चीजको ग्रहण करता है जो कि उसके दिमागमें पहलेसे ही भरी हुई है। परंतु यह सत्य मनोमय भूमिकाकी गतियोंसे ही संबंध रखता है और उसी भूमिकापर लागू होता है।

कारण, मन कर्म करने और आकार बनानेका करण है, ज्ञानका करण नहीं। यह प्रत्येक क्षण आकारोंकी रचना करता रहता है। विचार आकारमय होते और इनका अपना व्यक्तिगत जीवन होता

है जो उनके स्रष्टासे सर्वथा स्वतंत्र होता है। स्रष्टा जब इन विचारमय आकारोंको जगत्में भेज देता है तब उसके बाद ये अपने अस्तित्वके प्रयोजनको पूरा करनेके लिये जगत्में विचरण करने लगते हैं। जब तुम किसी व्यक्तिके विषयमें विचार करते हो तब तुम्हारा विचार एक आकार धारण कर लेता है और उस व्यक्तिको खोजनेके लिये निकल पड़ता है, और यदि तुम्हारे विचारके साथ-साथ उसके पृष्ठवर्त्ती कोई संकल्प लगा रहता है, तो तुम्हारे अंदरसे निकला हुआ यह विचारमय आकार अपने-आपको चरितार्थ करनेकी चेष्टा करता है। उदाहरणके लिये, मान लो कि तुम्हारी यह तीव्र इच्छा है कि अमुक मनुष्य तुम्हारे पास आवे, और इच्छाके इस प्राणमय आवेगके साथ-साथ यदि तुम्हारे बनाये हुए मनोमय आकारके साथ एक जोरदार कल्पना भी जुड़ी हुई हो, तो तुम कल्पना करोगे कि 'यदि वह आयेगा तो वह ऐसा होगा अथवा वह वैसा होगा।' अब मान लो कि कुछ कालके बाद इस विचारको तुमने सर्वथा त्याग दिया, लेकिन तुम नहीं जानते कि इस बातको भूल जानेके बाद भी, तुम्हारे विचारका अस्तित्व बना हुआ है। वास्तवमें अभी भी उसका अस्तित्व है और वह तुमसे सर्वथा स्वतंत्र रहकर अपना काम कर रहा है, और उसको इस कामसे वापस बुला लेनेके लिये एक महान् शक्तिकी आवश्यकता होगी। वह उस विचारसे संबंध रखनेवाले व्यक्तिके वातावरणमें प्रविष्ट होकर अपना काम करने लगता है और उसमें तुम्हारे पास आनेकी इच्छा उत्पन्न करता रहता है। और यदि तुम्हारे विचारमय आकारमें अपने कार्यको सिद्ध कर लेनेकी पर्याप्त इच्छाशक्ति है, यदि उस आकारका गठन भलीभांति हुआ है तो वह अपना काम करके ही छोड़ेगा। परंतु इस आकार-रचना और उसके कार्यकी सिद्धिके बीचमें कुछ समय लगता है और यदि इस कालके बीच तुम्हारा मन बिलकुल ही दूसरी चीजमें लगा रहा हो, तो जबतक तुम्हारा यह भूला हुआ विचार कार्यमें परिणत होता है तबतक हो सकता है कि तुमको यह याद भी न रहे कि एक दिन तुमने ही इसको

आश्रय दिया था, तुमको यह पता ही न हो कि तुम्हींने इसको क्रियान्वित होनेके लिये प्रेरित किया था और आज जो परिणाम हुआ है वह तुम्हारे ही कारण है। और बहुधा यह भी होता है कि इन विचारमय आकारोंका जब फल प्राप्त होता है, तब उस विषयकी इच्छा करना या उससे दिलचस्पी रखना तुमने छोड़ दिया होता है। कुछ लोग ऐसे हैं जिनमें इस प्रकारकी रचना-शक्ति बहुत ही बलवती होती है और उनकी मनोरचनाएं सदा कार्यान्वित होती हैं, लेकिन उनकी मनोमय और प्राणमय सत्ता चूंकि खूब अच्छी तरह सधी हुई नहीं होती, इसलिये वे कभी इस चीजकी इच्छा करते हैं तो कभी उस चीजकी, अतः उनकी ये भिन्न-भिन्न अथवा विरोधी रचनाएं और उनके परिणाम, एक-दूसरेसे टकराते और भिड़ते रहते हैं। और ऐसी अवस्था देखकर ये लोग आश्चर्य करते हैं कि उनका जीवन इतना अधिक अव्यवस्थित और असामंजस्यपूर्ण क्यों रहता है! वे इस बातका अनुभव नहीं करते कि उनके अपने ही विचारों और इच्छाओंके कारण ही यह हुआ है कि उनके इर्दगिर्द इस प्रकारकी एक परिस्थिति निर्मित हो गयी है जो उनको इतनी बेमेल और परस्पर-विरोधी जान पड़ती है और जिसके कारण उनका जीवन प्रायः असह्यसा हो गया है।

यह ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यदि इसको इसके सदुपयोग किये जानेके रहस्यके साथ-साथ दिया जाय। आत्म-संयम और आत्मशासन ही इसके रहस्य हैं। सत्यके मूलको तथा भागवत संकल्पके अनवरत शासनको—कारण, केवल भागवत संकल्पका अनवरत शासन ही प्रत्येक विचारमय आकारको उसकी पूर्ण शक्ति तथा उसकी संपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण सिद्धि प्रदान कर सकता है—अपने-आपमें खोज निकालना ही यह रहस्य है। साधारणतया, मनुष्य इस बातको जाने बिना ही कि उनकी ये विचार-रचनाएं किस प्रकार विचरण और क्रिया करती हैं, विचारोंको रचा करते हैं। इस प्रकारकी अज्ञानमय और विश्रृंखल अवस्थामें गढ़े हुए ये विचार परस्पर टकराते रहते हैं और तुमपर इस प्रकारका प्रभाव डालते हैं मानो तुम कोई

जोर लगा रहे हो, कोई प्रयास कर रहे हो, मानो इस कार्यमें तुम क्लांत हुए जा रहे हो, और तुम ऐसा महसूस करते हो मानो तुम किहीं असंख्य बाधाओंके बीचसे अपना मार्ग परिष्कार कर रहे हो। अज्ञान और असंगतिकी इन अवस्थाओंके कारण एक विशृंखल संग्राम प्रारंभ हो जाता है और इस संग्राममें जो विचारमय आकार सबसे अधिक बलवान् होते हैं तथा जो सबसे अधिक देरतक टिक सकते हैं, वे दूसरोंपर विजय लाभ करते हैं।

मन और उसके कार्यके विषयमें एक बात निश्चित है और वह यह कि तुम केवल उसी बातको समझ सकते हो जिसका तुम्हें अपने अंतरात्मामें पहलेसे ही ज्ञान होता है। किसी पुस्तकके पढ़नेपर उसकी जो बात तुमपर असर करती है वह वही होती है जिसको तुमने अपने अंदरकी गहराईमें पहलेसे ही अनुभव कर लिया होता है। मनुष्य, किसी पुस्तक या उपदेशको अत्यंत अद्भुत पाते हैं और बहुधा यह कहते हुए सुने जाते हैं कि "यहां जो कुछ कहा गया है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि इस विषयके संबंधमें मैं स्वयं अनुभव करता और जानता हूं, किंतु इस विषयका वर्णन इस स्थानपर जितने सुन्दर ढंगसे किया गया है वैसा मैं नहीं कर सका था।" जब मनुष्य किसी सत्यज्ञानकी पुस्तकका पारायण करते हैं तब उसमें प्रत्येक पाठक अपने-आपको पाता है, और उसके प्रत्येक नवीन पाठमें उसको कुछ ऐसी बातें मिलती हैं जिन्हें वह पहले नहीं देख सका था, प्रत्येक आवृति-में यह ग्रंथ उसके सामने ज्ञानके एक नवीन क्षेत्रको जिसको वह अभी-तक उसमें नहीं पा सका था, खोलकर दिखा देता है। परंतु यह इसलिये होता है कि उस मनुष्यकी अवचेतनामें ज्ञानके जो स्तर अभि-व्यक्त होनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे, यह पारायण उनका स्पर्श करता है और वह देख पाता है कि उस ज्ञानकी अभिव्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिद्वारा ही हो गयी है और वह भी, जैसी कि वह स्वयं कर सकता था उससे कहीं अधिक सुन्दर रीतिसे। परंतु यह अभिव्यक्ति जहां एक बार हुई कि तुरंत ही वह उसको पहचान जाता है। जो ज्ञान

तुम्हें बाहरसे आता हुआ दिखायी देता है वह तो उस ज्ञानको, जो तुम्हारे अंदर ही है, बाहर ले आनेका केवल एक अवसरमात्र है।

यह एक साधारण अनुभव है कि हम जो कुछ कहते हैं उसे प्रायः दूसरे ही रूपमें समझा या प्रदर्शित किया जाता है, इसका कारण भी उपर्युक्त प्रकारका ही है। जो कुछ हम कहते हैं वह सर्वथा स्पष्ट होनेपर भी लोग उस बातको जिस प्रकार समझते हैं उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति उसमें कुछ ऐसी ही बात देखता है जो कहनेवालेके अभिप्रायसे अलग होती है अथवा यहांतक होता है कि वह उसमें कोई ऐसी चीज मिला देता है जो उसके आशयके सर्वथा विपरीत होती है। यदि तुम किसी बातको सत्य रूपमें समझना और उपर्युक्त प्रकारके भ्रमसे बचना चाहते हो तो तुम्हें उस कथनकी ध्वनि और उसके शब्दोंकी जो गति होती है उसके पीछे जाकर उसे अपने अंदरकी निस्तब्ध नीरवतामें सुनना सीखना चाहिये। यदि तुम इस तरह सुनोगे तो ही तुम्हें ठीक-ठीक सुनायी पड़ेगा, ठीक-ठीक समझमें आयेगा। परंतु जबतक तुम्हारे दिमाग-में कोई चीज घूम रही और कोलाहल कर रही हो तबतक तुम केवल वही बात सुनोगे जो तुम्हारे अपने सिरमें घूम रही है, न कि वह जो कि कही गयी है।

"योगसे प्रथम परिचय होते ही विरोधी अवस्थाओंकी एक फौज-सी क्यों पीछे पड़ जाती है? किसीने कहा है कि योग-साधनाका द्वार खोलते ही अनगिनत बाधाएं सामने आ खड़ी होती हैं, क्या यह बात ठीक है?"

यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है, और बहुत कुछ व्यक्ति-विशेषपर निर्भर करता है। बहुतोंके पास विरोधी अवस्थाएं इस-लिये आती हैं कि उनकी प्रकृतिके जो कमजोर स्थान हैं उनकी परीक्षा हो जाय। योगमार्गपर तुम स्वतंत्रतापूर्वक चल सको इसके पहले

तुममें जिस वस्तुकी अच्छी तरह स्थापना हो जानी चाहिये, जो योगके लिये अनिवार्य आधार है, वह है समचित्तता। अतः, इस दृष्टिसे देखनेपर, सभी क्षोभ साधककी परीक्षाके लिये होते हैं और तुमको इन परीक्षाओंमें सफल होना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, तुम्हारे मनने जो सीमाएं तुम्हारे चारों ओर बना ली होती हैं उनको तोड़नेके लिये भी इनकी आवश्यकता है, कारण ये सीमाएं दिव्य ज्योति और सत्यके प्रति तुम्हारे उद्घाटनको रोकती हैं। तुम्हारा समग्र मनोमय जगत्, जिसमें कि तुम रहते हो, एक सीमामें बंधा हुआ है, फिर चाहे उसकी सीमाओंका तुम्हें ज्ञान या अनुभव हो या नहीं, और यह आवश्यक है कि कोई चीज आवे और इस भवनको, जिसके अंदर तुम्हारे मनने अपने-आपको बंद कर रखा है, तोड़ डाले और उसको इस बंधनसे मुक्त कर दे। उदाहरणार्थ, तुम्हारे कुछ बंधे हुए नियम, विचार या सिद्धांत होते हैं, जिन्हें तुम सर्वोपरि महत्त्व देते हो। अधिकांशतः, ये किहीं नैतिक सिद्धांतों अथवा उपदेश-वचनोंके आधारपर होते हैं, जैसे कि 'अपने माता-पिताका आदर कर' (मातृदेवो भव–पितृदेवो भव) या 'तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये' (अहिंसा परमो धर्मः) इत्यादि-इत्यादि। प्रत्येक मनुष्यकी अपनी कुछ धुन होती है अथवा वह दूसरोंकी अपेक्षा अपने संप्रदायमें कोई विशेषता मानता है। प्रत्येक मनुष्य यह समझता है कि दूसरे लोग जिन अमुक-अमुक सांप्रदायिक रूढ़ियोंमें बंधे हुए हैं उनसे वह सर्वथा मुक्त है और वह इस प्रकारके सांप्रदायिक मताग्रहोंको बिलकुल मिथ्या समझनेके लिये भी तैयार रहता है। परंतु वह सोचता है कि उसका अपना मतवाद दूसरोंकी तरहका नहीं है, वह तो बिलकुल सत्य ही है, वास्तविक सत्य है। मनके बनाये हुए किन्हीं भी नियमोंमें आसक्ति होना इस बातका सूचक है कि अभी भी कहींपर अंधापन छिपा हुआ है। उदाहरणके लिये उस सार्वत्रिक अंधविश्वासको ले लो जो समस्त जगत्में फैला हुआ पाया जाता है कि वैरागी जीवन और योग एक ही बात है। यदि तुम किसीका योगी या योगिनी कहकर वर्णन करो तो

तुरत उस व्यक्तिके बारेमें लोग यही कल्पना करने लगेंगे कि वह कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो खाता न हो अथवा समस्त दिन एक आसनसे अडोल बैठा रहता हो, जो किसी कुटियामें अत्यंत दरिद्रतापूर्वक रहता हो, जिसने अपना सब कुछ दे दिया हो और जो अपने लिये कुछ भी न रखता हो। जब किसी आध्यात्मिक मनुष्यके संबंधमें किसीसे कुछ कहा जाता है तो सौमें निन्यानबे आदमियोंके मनमें उस व्यक्तिके संबंधमें इसी प्रकारका चित्र खिच आता है, इनके लिये आध्यात्मिकता-का एकमात्र सबूत है दरिद्रता तथा जो कोई भी चीज सुखदायक या आरामदेह हो उससे परहेज। यह एक मनोनिर्मित धारणा है और यदि तुम आध्यात्मिक सत्यका साक्षात्कार और अनुसरण करनेके लिये स्वतंत्र हो जाना चाहते हो तो तुम्हें इस प्रकारकी कपोलकल्पना-को नष्ट कर देना होगा। कारण आध्यात्मिक जीवनमें तुम सच्ची अभीप्साके साथ प्रवेश करते हो और चाहते हो कि तुम अपनी चेतना और जीवनमें भगवान्‌से भेंट करो तथा उनका साक्षात्कार करो; अब होता यह है कि तुम एक ऐसे स्थानमें पहुंचते हो जिसको किसी तरह भी कुटिया नहीं कहा जा सकता और वहां तुम्हारी एक ऐसे भागवत पुरुषसे भेंट होती है जो सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, सब कुछ खाते हैं, उनके चारों ओर सुन्दर या अमीरीकी चीजोंका ठाठ लगा हुआ है, जो कुछ उनके पास है उसको वे गरीबोंको बांट नहीं दे रहे हैं, बल्कि लोग जो कुछ उनकी भेंट चढ़ाते हैं उसको स्वीकार करते और उसका उपभोग करते हैं। यह देखकर तुम अपने बंधे हुए मनो-निर्मित नियमके अनुसार तुरत घबड़ा जाते और चिल्ला उठते हो कि 'क्यों, यह सब क्या है ? मैंने तो सोचा था कि मेरी किसी योगी-से भेंट होगी, पर यहां तो ऐसी कोई बात नहीं है।' इस प्रकारकी मिथ्या धारणाको नष्ट कर देना चाहिये, ऐसा करना चाहिये जिसमें इसका तुममें अस्तित्वतक न रह जाय। एक बार जहां यह चली गयी कि तुम्हें कुछ ऐसी चीज प्राप्त होगी जो तुम्हारे वैराग्यके संकीर्ण सिद्धांतसे बहुत ही श्रेष्ठ है, तब तुम्हारा पूर्ण आत्मोद्‌घाटन हो सकेगा

जिसके फलस्वरूप तुम्हारी सत्ता मुक्त रहेगी। यदि कोई चीज तुमको दी जाती है तो उसे तुम्हें स्वीकार करना चाहिये और यदि उसी चीजको तुम्हें छोड़ देना होता है तो तुम्हें उसको उसी तत्परताके साथ छोड़ देना चाहिये। तुम्हारा भाव तो यह होना चाहिये कि अगर कोई चीज आयी तो तुमने उसे ग्रहण किया, अगर कोई चीज चली गयी तो तुमने उसे जाने दिया और इन दोनों ही समय, अर्थात् लेते समय और छोड़ते समय तुम्हारी मुसकानमें वही समता बनी रही।

अथवा फिर, मान लो कि तुमने 'तुझे हिंसा नहीं करनी चाहिये' (अहिंसा परमो धर्मः) को अपना आचारसर्वस्व स्वीकार कर लिया है और क्रूरता तथा हत्यासे तुम कांप उठते हो। अब यदि तुम तुरत ही अपने-आपको वहां पाओ जहां हत्या होती हो और वह भी एक बार नहीं पर बार-बार, उस समयतक जबतक कि तुम यह नहीं समझ जाओ कि तुम्हारा आदर्श केवल एक मानसिक सिद्धांत है और कुछ नहीं और तुम यह अनुभव न करने लगो कि आध्यात्मिक सत्यके जिज्ञासुको किसी भी मानसिक नियममें आसक्त या उससे बंधा हुआ नहीं रहना चाहिये –तो तुम्हें इसपर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। और एक बार जहां तुम इस आसक्ति या बंधनसे मुक्त हो गये तो संभवतः तुम यह पाओगे कि ये हिंसामय दृश्य जो तुम्हें दुःख देते थे– और वास्तवमें ये तुम्हें दुःख देनेके रूपमें तुमको अपने मनोनिर्मित जालसे निकाल लानेके लिये ही भेजे गये थे–अब तुम्हारे सामने नहीं होते, ये आश्चर्यजनक रीतिसे बंद हो गये हैं।

जब तुम भगवान्के पास जाते हो तो तुम्हें अवश्य ही अपनी समस्त मानसिक धारणाओंका त्याग कर देना चाहिये, किंतु ऐसा करनेके बदले उलटे तुम अपनी ही धारणाओंको भगवान्पर लादना चाहते हो और यह चाहते हो कि भगवान् उनका अनुसरण करें। योगीके लिये सच्चा भाव तो केवल यही है कि वह नमनशील बना रहे और भगवान्की ओरसे जो भी आदेश मिले उसका पालन करनेके लिये तैयार रहे; उसके लिये कोई चीज भी ऐसी न होनी चाहिये

जिसके बिना उसका काम ही न चले तथा कोई भी चीज उसको भार-रूप भी नहीं होनी चाहिये। जो लोग आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं उनका पहला आवेश यह होता है कि जो कुछ भी उनके पास हो उसको वे फेंक दें, किंतु वे ऐसा इसलिये करना चाहते हैं कि जिसमें वे एक बोझसे छुटकारा पा जायं न कि इसलिये कि वे अपना सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दें। जिनके पास धन है तथा जिनके इर्दगिर्द अमीरी और भोगकी सामग्रियां भरी पड़ी हैं, वे जब भगवान्‌की ओर मुंह करते हैं तो तुरत उनकी प्रवृत्ति इन सब चीजोंसे दूर भागनेकी ओर होती है, अथवा, जैसा कि वे कहते हैं, 'इनके बंधनसे निकल आने' की होती है। परंतु यह गलत प्रवृत्ति है, तुमको यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि जो चीजें तुम्हारे पास हैं वे तुम्हारी हैं—वे तो भगवान्‌की हैं। यदि भगवान् चाहते हैं कि तुम किसी चीजका भोग करो तो उसका तुम भोग करो, किंतु दूसरे ही क्षण यदि उसको छोड़ना पड़े तो उसके लिये भी प्रसन्न चित्तसे तैयार रहो।

"शारीरिक व्याधियां क्या हैं? क्या ये आक्रमण विरोधी शक्तियोंके हैं और क्या ये बाहरसे होते हैं?"

इस विषयमें दो बातें हैं जिनपर विचार करना चाहिये। एक वह जो बाहरसे आता है और दूसरा वह जो तुम्हारी आंतरिक अवस्थाओंसे आता है। तुम्हारी आंतरिक अवस्था रोगका कारण तब बनती है जब वहांपर कोई प्रतिरोध या विद्रोह होता है अथवा जब कि तुम्हारे अंदर कोई ऐसा भाग होता है जो भागवत संरक्षणका प्रत्युत्तर नहीं देता अथवा वहां कुछ ऐसी चीज भी हो सकती है जो इच्छापूर्वक और जानबूझकर विरोधी शक्तियोंको अंदर बुलाती हो। इस प्रकारकी कोई मामूलीसी गति भी तुम्हारे अंदर हो तो वह पर्याप्त है, विरोधी शक्तियां तुरत तुमपर चढ़ आती हैं और उनका आक्रमण बहुधा रोगका रूप धारण करता है।

"परंतु क्या यह ठीक नहीं है कि कभी-कभी रोगजनक कीटाणुओं-के कारण ही रोग होते हैं, योग-साधनाकी क्रियाके अंगभूत होकर नहीं ?"

कहांसे भला योगका आरंभ समझें और कहां अंत ? क्या तुम्हारा सारा जीवन ही योग नहीं है ? तुम्हारे शरीरमें और उसके आस-पास रोगकी संभावनाएं सदा बनी रहती हैं, तुम्हारे अंदर या तुम्हारे चारों तरफ सब प्रकारकी बीमारियोंके कीटाणु या रोग-जंतु विद्य-मान होते हैं अथवा वे तुम्हारे चारों ओर मंडराते रहते हैं। जो रोग तुमको वर्षोंसे नहीं हुआ उसके तुम एकाएक शिकार क्यों हो जाते हो ? तुम कहोगे कि इसका कारण 'प्राणशक्तिका सुस्त पड़ जाना' है। परंतु यह प्राणोंकी सुस्ती कहांसे आती है ? यह सत्ता-में किसी प्रकारका असामंजस्य होनेसे भागवत शक्तियोंके प्रति ग्रहण-शीलताका अभाव होनेसे आती है। जब तुम उस शक्ति और ज्योतिसे जो तुम्हारा धारण-पोषण करती है, अपने-आपको जुदा कर लेते हो तब यह सुस्ती होती है, तब जिसको वैद्यक-शास्त्र 'रोग-के लिये अनुकूल क्षेत्र' कहते हैं वह तैयार हो जाता है और कोई चीज इसका फायदा उठा लेती है। संदेह, निरुत्साह, विश्वासका अभाव, निजी स्वार्थके लिये भगवान्‌की ओरसे मुंह फेरकर पुनः अपनी ओर पलट आना—ये हैं जो ज्योति और दिव्य शक्तिसे तुम्हें अलग कर देते हैं और आक्रमणको इस प्रकारका लाभ पहुंचाते हैं। यही है तुम्हारे बीमार पड़नेका कारण न कि रोगके कीटाणु।

"परंतु क्या यह सिद्ध नहीं हो चुका है कि स्वच्छता और सफाई आदि रखनेमें सुधार करनेसे औसत नागरिकका स्वास्थ्य सुधरता है ?"

औषध और सफाई साधारण जीवनके लिये अपरिहार्य हैं, किंतु इस समय मैं औसत नागरिकोंके संबंधमें कुछ नहीं कह रही हूं, मैं तो

उनके बारेमें कह रही हूं जो योगसाधना करते हैं। फिर भी सफाई आदिकी पद्धतिसे यह घाटा होता है कि जहां तुम इससे रोगकी पकड़-में आनेकी संभावनामें कमी ले आते हो वहां रोगका प्रतिरोध करने-की तुम्हारी जो अपनी स्वाभाविक शक्ति है, उसको भी तुम क्षीण कर देते हो। अस्पतालमें काम करनेवाले, जो सदा अपने हाथ निःसंक्रामक ओषधियोंसे धोते रहते हैं, यह पाते हैं कि उनके हाथ औरोंकी अपेक्षा सहजमें संक्रामक जंतुओंके शिकार हो जानेवाले और कहीं अधिक प्रभावग्राही हो गये हैं। इनके विपरीत, उन लोगोंको ले लो जो स्वास्थ्यकर सफाई आदिके बारेमें कुछ भी नहीं जानते और अत्यंत अस्वास्थ्यकर काम करते रहते हैं, फिर भी वे संक्रामक रोगोंसे मुक्त रहते हैं। उनका अज्ञान ही उनकी सहायता करता है, कारण, आरोग्यशास्त्रकी बातोंको जाननेके कारण जो ऐसे विचार हमारे मनमें बैठ जाते हैं कि ऐसा होनेसे यह रोग होता है और वैसा होनेसे वह रोग, वैसे ख्यालोंकी वहां कोई संभावना ही नहीं होती। दूसरी ओर, स्वास्थ्यकर संरक्षणमें जो तुम्हारा विश्वास होता है वही इन विचारोंको भी कार्य करनेमें सहायता पहुं-चाता है। कारण, तुम समझते हो कि, 'अब मैंने निःसंक्रामक औषधका प्रयोग कर लिया और मैं सुरक्षित हूं,' तो उस हदतक यह तुमको सुरक्षित रखता भी है।

"तब फिर हमें स्वास्थ्यकर सावधानी–जैसे कि छाना हुआ पानी पीना–क्यों रखनी चाहिये ?"

क्या तुममेंसे कोई भी इतना शुद्ध और बलवान् है जिसपर सुझावों-का कुछ भी असर न होता हो ? यदि तुम बिना छाना हुआ पानी पीओ और सोचो कि 'अब मैं अस्वच्छ जल पी रहा हूं' तो तुम्हारे बीमार पड़नेकी बहुत कुछ संभावना हो जाती है। और यद्यपि इस प्रकारके सुझाव सचेतन मनके द्वारा न भी पहुचें तो तुम्हारी

समग्र अवचेतना तो पड़ी ही है जो किसी भी ऐसे सुझावको ग्रहण करनेके लिये बुरी तरह खुली हुई रहती है। जीवनमें अवचेतनाके कार्यका भाग अधिक होता है और सचेतन भागोंकी अपेक्षा अवचेतना सौगुनी शक्तिशालिताके साथ कार्य करती है। साधारण मानव-अवस्था वह अवस्था है जो भय और आशंकाओंसे भरी हुई है। यदि तुम अपने मनको दस मिनटतक गहरी दृष्टि डालकर देखो तो तुमको यह पता लगेगा कि उसके दसमेंसे नौ विचार भयसे भरे हुए हैं, वह अपने अंदर, बृहत् और क्षुद्र, समीपवर्त्ती और दूरवर्त्ती, देखी हुई और बिना देखी हुई अनेक चीजोंके भयको लिये रहता है, और यद्यपि यह बात साधारणतया तुम्हारी सचेतन दृष्टिमें नहीं आती, पर तुम्हारे अंदर ये भय तो होते ही हैं। समस्त भयसे मुक्त हो जाना—यह अवस्था तो अनवरत प्रयास और साधनाद्वारा ही आ सकती है।

और, साधना और प्रयासके द्वारा यदि तुमने अपने मन और प्राण-को आशंका तथा भयसे मुक्त भी कर लिया हो तो भी शरीरको मना लेना अधिक कठिन होता है। परंतु यह भी करना ही पड़ेगा। एक बार तुमने योगमार्गमें प्रवेश किया कि तुमको समस्त भयोंसे मुक्त हो जाना चाहिये,—अपने मनके भयोंसे, अपने प्राणोंके भयोंसे, अपने शरीरके भयोंसे, जो उसके एक-एक लोम-कूपमें भरे पड़े हैं, मुक्त हो जाना चाहिये। योगमार्गमें जो तुम्हें ठोकरें खानी पड़ती हैं और आघात सहन करने पड़ते हैं उनका एक उपयोग यह भी है कि वे तुम्हें समस्त भयोंसे मुक्त कर दें। जिन कारणोंसे तुम्हें भय होता है वे उस समयतक तुमपर बारंबार हमला करते रहते हैं जबतक कि तुम इस योग्य न हो जाओ कि तुम उनके सामने स्वतंत्र और उदासीन, अनासक्त और शुद्ध होकर खड़े रह सको। किसीको समुद्रसे भय होता है, कोई आगसे डरता है। अब, हो सकता है कि जो व्यक्ति अग्निसे भय खाता हो उसको एकके बाद एक अनेकों भीषण अग्नि-कांडोंको उस समयतक अपनी आंखोंके सामने होते हुए देखना पड़े

जबतक कि वह इतना अभ्यस्त न हो जाय कि इस कांडसे उसके शरीर-का एक लोमकूपतक न कांपे। जिस चीजसे तुमको त्रास पैदा होता है वह उस समयतक बारंबार आती रहती है जबतक कि उससे तुममें त्रास होना बिलकुल बंद न हो जाय। जो रूपांतरित होना चाहता है और जो इस योगमार्गका साधक है उसे तो सर्वांशतः भयमुक्त होना ही पड़ेगा, उसे ऐसा बन जाना पड़ेगा कि कोई भी घटना उसकी प्रकृति-के किसी भागको छू या हिला न सके।

८

"यदि हमारा संकल्प विश्वसंकल्पकी अभिव्यक्ति या प्रतिध्वनि-मात्र ही है तो फिर वैयक्तिक आरंभके लिये स्थान ही कहां है? क्या व्यक्ति विश्वगतियोंको अंकित करनेके लिये केवल एक यंत्रमात्र है? क्या उसमें सृजन अथवा मौलिक रचना करनेकी कोई शक्ति है ही नहीं?"

कौन कहांसे, चेतनाकी किस भूमिकापरसे वस्तुओंको देखता और उनके संबंधमें बोलता है अथवा सत्ताके किस भागसे वह उनपर क्रिया करता है, इसपर सब कुछ निर्भर करता है।

चेतनाकी एक भूमिकापरसे देखनेपर व्यक्ति तुमको ऐसा दिखायी देगा कि वह निरा यंत्र या केवल अंकित करनेवाला ही नहीं है, बल्कि वह स्रष्टा भी है। परंतु इसी बातको तुम चेतनाकी दूसरी तथा एक और भी ऊंची भूमिकासे एवं विशालतर दृष्टिकोणसे देखो तो तुम देखोगे कि यह केवल आभासमात्र है। विश्वगतिक्रममें जो कुछ भी घटना घटती है वह जो कुछ पहले घट चुका है उसका परिणामरूप होती है। अभिव्यक्तिकी समग्र लीलामेंसे किसी एक सत्ताको अथवा क्रियाओंकी समग्रतामेंसे किसी एक क्रियाको पृथक् कर लेनेका तुम्हारे पास क्या उपाय है? किसी वस्तुके मूल अथवा आरंभको तुम कहांसे पकड़ना चाहते हो? समग्र लीला एक मजबूत जुड़ी हुई सांकलकी तरह है, इसकी एक लड़ी दूसरी लड़ीमें अगोचररूपसे गुंथी हुई है। इस सांकलमेंसे किसी चीजको भी अलग नहीं किया जा सकता और उसका

इस तरह वर्णन नहीं किया जा सकता कि वह स्वयं ही अपना मूल और आरंभ है।

और, जब तुम यह कहते हो कि व्यक्ति किसी गतिकी उत्पत्ति या सृष्टि करता है तो इससे तुम्हारा क्या अभिप्राय होता है ? क्या उसको वह केवल अपनेमेंसे ही, अथवा यह कहें तो चल सकता है कि शून्यमेंसे उत्पन्न करता है ? यदि कोई व्यक्ति स्वयं अपने-आपमेंसे इस प्रकार किसी विचार अथवा अनुभव अथवा क्रिया या और किसी चीजकी सृष्टि कर सके तो वह तो जगत्‌का स्रष्टा ही होगा। जब कोई व्यक्ति अपनी चेतनाको उस एक महत्तर चेतनामें वापस ले जाता है जहांसे वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, तभी वह स्रष्टा बन सकता है। समस्त गति-योंके आदिकारण स्वरूप जो एकमात्र सचेतन शक्ति है, उसके साथ तदाकार होनेपर ही वह किसी क्रियाविशेषका आरंभ करनेवाला या प्रवर्तक हो सकता है।

चेतनाकी कई भूमिकाएं हैं, और एक भूमिकाका विधि-विधान दूसरी भूमिकाके विधि-विधान जैसा ही नहीं होता। इसलिये, तुम जब व्यक्तिको स्रष्टा कहते हो, तब तुम उसके किस भागका विचार कर रहे होते हो ? कारण, व्यक्ति अनेक तत्त्वोंके द्वारा बनी हुई सत्ता है। क्या तुम उसके हृत्पुरुषके विषयमें कहते हो या उसकी मनोमय, प्राणमय या अन्नमय सत्ताके विषयमें ? किसी गतिका जो अदृश्य मूल है उसके तथा उसका जो प्रकटीकरण होता है, व्यक्तिके द्वारा उसकी जो बाह्य अभिव्यक्ति होती है उसके बीचमें ये सब तथा दूसरी दूसरी बहुतसी भूमिकाएं हैं, बहुतसे क्रम हैं और प्रत्येक क्रमपर उस गतिमें बहुतेरे हेरफेर, बहुतसे विकार, बहुतसी विरूपताएं हो जाती हैं। इन परिवर्तनोंके कारण ही यह भ्रम हो जाता है कि इस गतिका मूल अमुक स्थानपर है, यह एक नयी सृष्टि अथवा एक नया आरंभ है। यह ऐसा ही है जैसे कि जब कोई एक छड़ीको पानीके अंदर डाल देता है तब वह छड़ी उसको उसकी असली सीधी रेखामें दिखायी न देकर एक कोणा-कार रेखामें मुड़ी हुई दिखायी देती है। परंतु यह एक भ्रम है, दृष्टिका

एक विकार है। उस समय जो कुछ दिखायी देता है वह तो कोई वास्तविक कोण भी नहीं होता।

प्रत्येक वैयक्तिक चेतना विश्वगतिमें कोई ऐसी चीज ले आती है जिसको एक दृष्टिबिन्दुसे विश्वगतिमें उसका अपना विकार और दूसरे दृष्टिबिंदुसे विश्वगतिमें उसका अपना विशिष्ट गुण कहा जा सकता है। ये वैयक्तिक गतियां भागवत गतिकी लीलाका एक अंग ही हैं। ये अपने-आपमें कोई आरंभ नहीं हैं, ये तो उन चीजोंके परिवर्तित रूप हैं जिनके प्रारंभको तुम्हें विश्वके समष्टिरूपमें खोजना चाहिये।

पृथकत्वका भाव सर्वत्र फैला हुआ है, किंतु यह एक भ्रम ही है। सत्य चेतनामें प्रवेश करनेकी इच्छा रखनेवाले साधकको जिन मिथ्या भावोंसे अपने-आपको शुद्ध कर लेना है, उनमें एक भाव यह भी है। मन जगत्को छोटे-छोटे टुकडोंमें बांट लेता है। वह कहता है कि 'यहां-पर इस चीजका अंत होता है, वहांसे यह चीज आरंभ होती है,' और इस तरह टुकड़े करके देखनेकी क्रियाके द्वारा वह विश्वगतिको विकृत करने-में सफल होता है। वास्तवमें एक, विश्वव्यापी, सर्वग्राही चेतना है जिस-का एक महान् प्रवाह इस नित्य-निरंतर विकसित होते जाते हुए विश्वमें अभिव्यक्त होता रहता है। यही वह सत्य है जो यहांकी प्रत्येक वस्तुके पीछे स्थित है, पर इसके साथ-साथ यहां यह भ्रम भी है जिसके कारण सत्य हमसे छिपा रहता है, उसपर परदा पड़ा रहता है—यह भ्रम कि ये गतियां अनेक हैं, एक दूसरेसे पृथक् हैं, अपने-आपमें स्थित हैं, अपने-आपमें हैं और अपने-आपके लिये हैं तथा इनमें प्रत्येक कोई ऐसी चीज है जो बाकीके विश्वब्रह्मांडसे अलग है। ये गतियां ऐसा समझती हैं कि उनकी जो एक-दूसरेपर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है वह एक बाहरी चीज है, मानो वे विभिन्न पृथक्-पृथक् जगतोंकी तरह हैं जो एक दूसरेके सम्मुख खड़े हैं पर उनमें किसी दूरके बाहरी संबंधके अतिरिक्त और कोई परस्पर संपर्क स्थापित करनेवाला तत्त्व नहीं। हरएक गति अपनेको इस प्रकार देखती है मानो उसका एक ऐसा पृथक् व्यक्तित्व है जो उसे अपने अधिकारसे प्राप्त है। पृथकत्वके इस भावको, इस

भ्रमको विश्वलीलाके अंगभूत इसलिये होने दिया गया है कि यह आवश्यक था कि वह एक चेतना अपने-आपको बाहर प्रकट कर सके और अपने रूपोंको स्थिर कर सके। परंतु चूंकि भूतकालमें यह होने दिया गया है, इसका यह अर्थ नहीं कि पार्थक्यका यह भ्रम सदा बना ही रहना चाहिये।

विश्वलीलामें भाग लेनेवाले अधिकांश व्यक्ति ऐसे यंत्र हैं जिन्हें अपने स्वरूपका, वे इस लीलाके एक यंत्र हैं इसका कुछ भी ज्ञान नहीं होता, वे ऐसे अभिनेता होते हैं जो बिना समझे-बूझे कठपुतलियोंकी तरह नाचते रहते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो सचेतन हैं, और वे इस बातका ज्ञान रखते हुए अपना अभिनय करते हैं कि यह एक लीला है। और कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें विश्वगतिका पूर्ण ज्ञान होता है और जो इस विश्वगतिके साथ तथा अखंड भागवत चेतनाके साथ एक होते हैं पर फिर भी वे इस प्रकारका अभिनय करना स्वीकार करते हैं मानो वे कोई अलग वस्तु हों, समग्रताका एक खंड हों। उस अज्ञान और पूर्ण ज्ञानके बीचमें कई मध्यवर्ती अवस्थाएं हैं. इस लीलामें सम्मिलित होनेके कई रूप हैं। एक अज्ञानकी अवस्था है जिसमें तुम किसी कामको इस विश्वासके साथ करते हो कि तुम्हींने उसको करनेका निश्चय किया था। दूसरी इससे कम अज्ञानपूर्ण अवस्था है और इस अवस्थामें तुम किसी कामको यह जानते हुए करते हो कि तुमको वह काम करना पड़ा है, किंतु तुम्हें इस बातका पता नहीं होता कि तुमको वह क्यों और कैसे करना पड़ा। और फिर चेतनाकी एक ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें तुम्हें पूर्ण ज्ञान रहता है—कारण इस अवस्थामें तुमको इस बातका पता होता है कि वह कौनसी शक्ति है जो तुम्हारे द्वारा कार्य कर रही है, तुम यह जानते होते हो कि तुम तो एक यंत्र हो, तुमको इसका ज्ञान होता है कि तुम्हारे कर्म कैसे और क्यों होते हैं, उनकी प्रक्रिया और उनका प्रयोजन क्या है। अज्ञानकी वह अवस्था, जिसमें तुम यह मानते हो कि तुम्हीं अपने कर्मोंके कर्त्ता हो, उस समयतक बनी रहती है जबतक कि तुम्हारे विकासके लिये उसकी आवश्यकता होती है, किंतु ज्योंही

तुम किसी उच्चतर अवस्थामें चले जानेके योग्य हो जाते हो त्योंही तुमको यह दिखायी देने लगता है कि तुम उस एक चेतनाके यंत्रमात्र हो, अब तुम ऊपरकी ओर कदम बढ़ाते हो और एक ऐसी भूमिकामें ऊपर उठ जाते हो जो उससे भी अधिक सचेतन है।

"विरोधी शक्तियां जिस प्रकार प्राणमय जगत्में हमपर आक्रमण करती हैं उसी प्रकार क्या मनोमय भूमिकापर भी उनका आक्रमण होता है?"

इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर देनेके लिये बहुतसे ऐसे विषयोंका आशय बताना पड़ेगा जिनमें अभी तुरत प्रवेश करनेका समय नहीं आया है।

मन एक गति है। परंतु मनरूपी इस गतिके भी कई प्रकार हैं, कई स्तर हैं जो एक दूसरेका स्पर्श करते और आपसमें ओत-प्रोततक होते रहते हैं। इतना ही नहीं बल्कि जिस गतिको हम मनके नामसे पुकारते हैं वह अन्य भूमिकाओंमें भी प्रविष्ट होती रहती है। स्वयं मनोमय जगत्के ही कई स्तर हैं। ये सभी मनोमय भूमिकाएं और मनोमय शक्तियां यद्यपि अन्योन्याश्रित हैं फिर भी उनकी गतियोंके गुणमें भेद होता है और उनके वर्णनको सहज करनेके लिये हमें उनको एक दूसरेसे पृथक् करके बोलना पड़ता है। इस प्रकार हम उच्चतर मन, मध्यवर्त्ती मन, भौतिक मन और अत्यन्त स्थूल मन भी—इन सबका अलग-अलग भेद करके बोलते हैं। इनके अतिरिक्त मनके और भी बहुतेरे भेद किये जा सकते हैं।

अब, कुछ मनोमय भूमिकाएं ऐसी हैं जो प्राणमय जगत्से बहुत ऊपर ऊर्ध्वमें स्थित हैं और वहांतक प्राणमय जगत्का प्रभाव नहीं पहुंच पाता, वहां विरोधी शक्तियां या सत्ताएं हैं ही नहीं। परंतु दूसरी-दूसरी मनोमय भूमिकाएं हैं—और ये अनेक हैं—जहां प्राणमय शक्तियां पहुंच सकतीं और उनमें ओत-प्रोत हो सकती हैं। जो मनोमय भूमिका

भौतिक जगत्से संबंध रखती है, जिसे हम साधारणतया भौतिक मन कहते हैं, उसकी बनावट और गति असली मनकी अपेक्षा अधिक स्थूल और जड़ होती है और यह भौतिक मन बहुत कुछ प्राणमय जगत् और विरोधी शक्तियोंके प्रभावमें रहता है। भौतिक मन साधारणतया निम्न प्राणकी चेतना और उसकी गतियोंके साथ एक प्रकारकी मित्रताका संबंध जोड़े रहता है। निम्नतर प्राण जब किन्हीं इच्छाओं और आवेगोंको प्रकट करता है तब यह मन, यह अधिक स्थूल मन उनकी सहायताके लिये पहुंच जाता है, उनके लिये लंबी-चौड़ी दलीलें, तर्क और बहाने निकाल-निकालकर उनके औचित्यको सिद्ध करनेकी चेष्टा करता तथा उनका समर्थन करता रहता है। मनका यही स्तर प्राणमय जगत्के सुझावोंके लिये बहुत अधिक खुला हुआ रहता है और बहुधा इसी स्तरपर प्राणमय जगत्की शक्तियां आक्रमण किया करती हैं। परंतु हममें एक उच्चतर मन भी है जो निःस्वार्थ भावनाओं और प्रकाशमय चिंतनोंके क्षेत्रमें विचरण करता रहता है, यही मन आकारोंका जन्मदाता है; और फिर हममें शुद्ध भावनाओंका एक मन है, ऐसी भावनाओंका जिन्होंने अभी आकार ग्रहण नहीं किया है—ये महत्तर मनलोक प्राणमय गतियों और विरोधी शक्तियोंसे सर्वथा मुक्त हैं, क्योंकि ये उनकी पहुंचके बहुत ऊपर स्थित हैं। वहां परस्पर प्रतिकूल गतियां हो सकती हैं, ऐसी गतियां और रचनाएं हो सकती हैं जिनका सत्यके साथ मेल न खाता हो अथवा जो एक दूसरेसे टकराती हों, किंतु वहां प्राणमय क्षोभ नहीं है, वहां ऐसी कोई चीज नहीं है जिसको विरोधी या शत्रु कहा जा सके। सच्चा दार्शनिक मन, चिंतन करनेवाला आविष्कारक तथा आकार निर्माण करनेवाला मन और जिन्हें अभीतक आकार नहीं प्राप्त हुआ है ऐसी विशुद्ध भावनाओंवाला मन, इस हीनतर आक्रमण और प्रभावकी पहुंचके परे है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि जिन विरोधी सत्ताओंके विषयमें मैंने अभीतक कहा है उनसे अधिक शक्तिशाली तथा जिनका मूल कुछ और ऊपरकी भूमिकामें है, वहांकी बिगड़ी हुई अथवा विरोधी सत्ताओंके द्वारा इन मनोंकी

गतियोंकी नकल भी नहीं की जा सकती हो अथवा इनकी सृष्टिका दुरुपयोग नहीं किया जा सकता हो।

"हृत्पुरुषके जगत्की अवस्थाएं क्या हैं? इस जगत्तक विरोधी शक्तिओंकी कैसी पहुंच है?"

हृत्पुरुषका जगत् अथवा उसकी चेतनाकी भूमिका जगत्का वह भाग है, हृत्पुरुष हमारी सत्ताका वह भाग है जो सदा भागवत चेतना-के प्रभावमें रहता है, विरोधी शक्तियां इसपर किसी प्रकारकी साधारणसी क्रिया भी नहीं कर सकतीं। यह सामंजस्यका जगत् है, और इसमें प्रत्येक वस्तु एक प्रकाशसे दूसरे प्रकाशको तथा एक प्रगतिसे दूसरी प्रगतिको प्राप्त होती रहती है। यह भागवत चेतना-का, व्यक्तिमें रहनेवाले दिव्य आत्माका निवास-स्थान है। यह प्रकाशका, सत्यका, ज्ञानका, सौंदर्यका और सामंजस्यका केंद्र है, जिन-की सृष्टि यह दिव्य आत्मा अपनी उपस्थितिके द्वारा हममेंसे हरएक-के अंदर थोड़ा-थोड़ा करके करता रहता है। भागवत चेतना–जिसका कि वह एक अभिन्न अंग है–के द्वारा ही वह प्रभावित, गठित और परिचालित होता है। यही वह गभीर आंतर सत्ता है जो तुममेंसे हरएकके अंदर है और जिसे तुम्हें ढूंढ़ लेना होगा जिससे कि तुम अपने अंदरमें रहनेवाले भगवान्के संपर्कमें आ जाओ। यह हृत्पुरुष ही है जो भागवत चेतना और तुम्हारी बाह्य चेतनाके बीच संबंध स्थापित कराता है। हृत्पुरुष ही आंतर जीवनको बनाता है, यही है जो बाह्य प्रकृतिमें भागवत संकल्पके अनुसार व्यवस्था और नियमकी अभिव्यक्ति करता है। यदि तुम अपने अंदर रहनेवाले अपने हृत्पुरुषसे अपनी बाह्य चेतनामें अवगत हो जाओ और उसके साथ एक हो जाओ तो तुम शुद्ध शाश्वत चेतनाको पा सकोगे और उसमें रह सकोगे; और साधारण मनुष्यकी तरह सदा अज्ञानद्वारा कर्ममें प्रवृत्त होनेके बदले तुम अपने अंदर एक शाश्वत ज्योति और

ज्ञानकी उपस्थितिका अनुभव करते हुए विकासको प्राप्त होते रहोगे, इसीको तुम आत्मसमर्पण करोगे और इसीपर पूर्ण रूपसे अपने-आपको उत्सर्ग करके तुम इसीके द्वारा प्रत्येक कर्ममें प्रेरित होते रहोगे।

क्योंकि, हृत्पुरुष तुम्हारा वह भाग है जो पहले ही अपने-आपको भगवान्‌को सौंपे हुए है। इसका जो प्रभाव तुम्हारी चेतनाके अत्यंत बाह्य और स्थूल सीमाओंपर क्रमशः फैल रहा है, वही तुम्हारी संपूर्ण प्रकृतिका रूपांतर करेगा। यहां किसी प्रकारके अंधकारको स्थान नहीं है, यही तुम्हारा ज्योतिर्मय भाग है। अधिकांश मनुष्य, उनके अंदर आत्माका जो यह भाग है, उससे अनभिज्ञ हैं। योग-साधना इसलिये की जाती है कि तुम अपने इस भागसे सचेतन हो जाओ, जिससे कि तुम्हारे रूपांतरकी प्रक्रिया, शताब्दियोंमें पूर्ण होनेवाले एक मंद और लंबे प्रयासके बदले एक ही जीवन अथवा चंद वर्षोंमें ही पूरी की जा सके।

मृत्युके बाद भी इस हृत्पुरुषका अस्तित्व बाकी रहता है, कारण यह तुम्हारा शाश्वत आत्मा है और यही चेतनाको जन्म-जन्मांतरमें आगे बढ़ाता रहता है।

तुम्हारे अंदर जो सत्य भागवत व्यक्तित्व है, वह हृत्पुरुष ही है। कारण, व्यक्तित्वका अर्थ है अभिव्यक्तिका एक विशेष प्रकार, जो व्यक्ति-व्यक्तिका अपना एक अनूठा होता है, और तुम्हारा हृत्पुरुष उस एक भागवत चेतनाके–जिसने तुम्हारे अंदर रूप ग्रहण किया है–असंख्य पहलुओंमेंसे एक पहलू है। परंतु व्यष्टि-चेतना और विश्व-चेतनाके बीच जो भेदभाव तुम्हारी प्रकृतिके अन्य भागोंमें है वह हृत्पुरुषकी चेतनामें नहीं है। वहां तुमको इस बातका ज्ञान रहता है कि अभिव्यक्ति करनेका तुम्हारा जो एक विशिष्ट प्रकार है वही तुम्हारा व्यक्तित्व है, पर इसके साथ-साथ वहां तुमको इस बातका भी ज्ञान रहता है कि तुम्हारे द्वारा जो यह अभिव्यक्ति होती है वह उस एक अखंड विश्व-चेतनाकी ही बहिर्गत अभिव्यक्ति है। यह ऐसा है मानो तुमने अपने एक अंगको अपने-आपमेंसे बाहर निकाल

लिया हो और उसको अपने सामने रखा हो और अब वह अंग और तुम दोनों आपसमें एक दूसरेको देख रहे हों और दोनोंके बीच क्रिया-ओंकी एक लीला खेली जा रही हो। इस द्वैतभावकी आवश्यकता इसलिये हुई जिससे कि अपने बहिर्गत रूपके साथ संबंध बनाया और स्थापित किया जा सके तथा उसको भोगा जा सके, किंतु हृत्पुरुषकी चेतनामें यह भेदभाव, जो द्वैतभावका पोषक है, केवल भ्रमरूप, एक दिखावामात्र अनुभव होता है, वहां इस भावका, इससे अधिक और कोई मूल्य नहीं है।

"अध्यात्म-भूमिका और हृत्पुरुषकी भूमिकामें क्या कोई भेद है? क्या ये भूमिकाएं अलग-अलग हैं?"

हां, हृत्पुरुषकी भूमिका व्यक्तिगत अभिव्यक्तिकरणसे संबंध रखती है, तुममें जो भगवान् हैं, जो लीलामें गतिशील होनेके लिये आविर्भूत हुए हैं, उनका वह गतिशील स्वरूप ही तुम्हारा हृत्पुरुष है। परंतु जब हम अध्यात्मके विषयमें बोलते हैं तब हमारे ध्यानमें कोई ऐसी चीज होती है जो बाह्य अभिव्यक्तिकरणमें होनेकी अपेक्षा भगवान्में केंद्रित है। आध्यात्मिक भूमिका कुछ ऐसी चीज है जो बहिर्वर्त्ती लीलाके पीछे और ऊपर स्थितिशील होकर विद्यमान है। यह प्रकृतिके उपकरणोंको धारण करती है, उन्हें सहारा देती है, किंतु यहांकी बाह्य अभिव्यक्तिमें यह अपने-आपको सम्मिलित या लीन नहीं करती।

परंतु इन विषयोंकी चर्चा करते हुए जिन शब्दोंका हम उपयोग करते हैं, उन शब्दोंसे ही कहीं हम बंध न जायं इस बातसे हमें साव-धान रहना चाहिये। मैं जब हृत्पुरुष अथवा अध्यात्मके विषयमें कुछ कहती हूं तब उस समय मेरा अभिप्राय उन वस्तुओंसे होता है जो अत्यंत गभीर और वास्तविक हैं, जो शब्दोंके नीरस ऊपरी तलके परेकी चीजें हैं और जिनमें पृथकत्वकी अवस्थामें भी अंतरंग संबंध

रहता है। बौद्धिक व्याख्याएं और विवेचन इतने अधिक बाह्य और कठोर होते हैं कि वे वस्तुओंके वास्तविक सत्यको नहीं पकड़ सकते। फिर भी यदि बातचीत करनेवाले ऐसे लोग न हों जिन्हें एक दूसरेके साथ वार्त्तालाप करनेका बहुत अधिक अवसर प्राप्त होता हो तो शब्दोंके भावको अच्छी तरह समझानेकी जरूरत पड़ती ही है, इसके बिना तुम एक दूसरेके अभिप्रायको अच्छी तरह नहीं समझ सकते। किसी वार्त्तालापके लिये आदर्श अवस्था वह होती है जब कि उस वार्त्तालापमें भाग लेनेवाले मन परस्पर एक स्वरमें इतनी अच्छी तरह मिले हुए हों कि उनके शब्द अनायास होनेवाले पारस्परिक बोधके लिये केवल सहारामात्र ही हों और जो कुछ चर्चा होती हो उसकी पद-पदपर व्याख्या करनेकी आवश्यकता न पड़े। जिन लोगोंसे तुम्हें रातदिन बातें करनेका अवसर मिलता है उनके साथ बातचीत करने में उपर्युक्त लाभ रहता है, ऐसे लोगोंके मनोंमें एक समस्वर सामंजस्यकी स्थापना हो जाती है और कही हुई बातका मर्म उनके अंदर तुरंत पैठ जाता है।

जिन्होंने अभी आकार ग्रहण नहीं किया है ऐसी भावनाओंका एक जगत् है और शब्दोंके पीछे जो सत्य है उसको ग्रहण करनेके लिये तुम्हें इस जगत्में प्रवेश करना चाहिये। जबतक तुम्हारी समझ शब्दोंके बाह्य रूपोंसे ही बनती है तबतक बहुत संभव है कि उनके सत्यभावको समझनेके लिये तुम्हें एक बड़ी उलझनमें पड़ा रहना पड़े। परंतु यदि तुम अपने मनकी नीरवतामें प्रवेश करके उस जगत्में ऊपर उठ सको जहांसे भावनाएं रूप ग्रहण करनेके लिये अवतरित होती हैं, तो तुम्हें तुरंत सत्य-बोध होगा। यदि तुम्हें इस बातसे असंदिग्ध हो जाना है कि तुम एक दूसरेके भावको ठीक-ठीक समझ लेते हो, तो तुम-में यह योग्यता हो जानी चाहिये कि तुम अपने हृदयोंकी नीरवतामें एक दूसरेकी बात समझ सको। एक ऐसी अवस्था होती है जिसमें तुम्हारे मन परस्पर इतने अधिक समस्वर और सामंजस्यमय हो जाते हैं कि तब शब्दोंकी आवश्यकता नहीं रह जाती और एक व्यक्ति दूसरे

व्यक्तिके विचारको अनुभव कर लेता है। परंतु यदि यह समस्वरता नहीं है तो तुम्हारे अभिप्रायमें कुछ-न-कुछ विकार आ ही जायगा, कारण तब तुम जो कुछ कहोगे उसमें दूसरेका मन अपना ही कुछ अभिप्राय जोड़ देगा। मैं एक शब्दका प्रयोग उसके किसी विशिष्ट अर्थमें या उस अर्थकी किसी विशिष्ट छायामें करती हूं, तुम दूसरे ही अर्थ या छायाको उस शब्दके आशयमें ले आनेके अभ्यासी हो। अब यही तो होगा कि उस शब्दसे जो मेरा अभिप्राय है उसको तुम ज्यों-का-त्यों नहीं समझ सकोगे, बल्कि उस शब्दका जो अर्थ तुम्हारे लिये बन चुका है उसे ही समझोगे। केवल वाणीके व्यवहारमें ही नहीं, किंतु पढ़नेके संबंधमें भी यही अर्थ लागू होता है। यदि तुम किसी ऐसी पुस्तकको समझना चाहते हो जिसमें किसी गभीर विषयकी शिक्षा दी गयी हो तो तुम्हें उस पुस्तकको अपने मनकी नीरवतामें पढ़ सकनेके योग्य होना चाहिये। तुम्हें जल्दी नहीं करनी चाहिये, उस पुस्तकके कथनको अपने अंदरकी गहराईमें उतर जाने देना चाहिये, उस क्षेत्रतक पहुंच जाने देना चाहिये जहां शब्द नहीं रहते और फिर वहांसे उसे शनैः-शनैः अपनी बाह्य चेतना और उसके ऊपरी तलतक वापस लौट आने देना चाहिये, और तबतक इंतजार करना चाहिये। परंतु यदि तुम शब्दोंको अपने बाह्य मनतक एक ही छलांगमें कूदकर पहुंच जाने दोगे और फिर इन दोनोंको परस्पर जोड़ देने और इनका मेल मिला देनेकी चेष्टा करोगे तो तुम शब्दोंके वास्तविक अभिप्राय और शक्तिको गंवा दोगे। जबतक तुम अपने अव्यक्त मनके साथ, जो अभिव्यक्तिके केंद्रके पीछे-पीछे विद्यमान रहता है, एकता प्राप्त न कर लो तबतक तुम्हारी समझको निर्भूल नहीं कहा जा सकता।

पहले एक जगह हम लोग वैयक्तिक मनकी चर्चा कर चुके हैं और उस जगह यह कहा गया है कि प्रत्येक वैयक्तिक मन एक अलग-अलग जगत् है जो एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है, हरएक अपने-आपमें ही बंद है और एकका दूसरे जगतोंके साथ किसी प्रकारका कोई सीधा संबंध नहीं-सा ही है। परंतु यह अवस्था मनके हीनतर क्षेत्रमें ही है, वहां

तुम्हारी अपनी रची हुई रचनाएं ही तुम्हें अपने अंदर बंद कर लेती हैं और इन रचनाओंमेंसे या अपने मनकी चौहद्दीमेंसे बाहर निकल आना तुम्हारे लिये कठिन हो जाता है। इस क्षेत्रमें तुम अपने-आपको ही अथवा वस्तुओंमें जो तुम्हारा अपना प्रतिबिंब है उसको ही समझ सकते हो। परंतु यहां अर्थात् मनके उच्चतर क्षेत्रों और उसकी पवित्रतर ऊंचाइयोंमें तुम स्वतंत्र हो। जब तुम इसमें घुसते हो तब तुम अपन ही मनकी सीमासे बाहर निकल जाते हो और एक ऐसे विश्वव्यापी मनोमय लोकमें प्रवेश कर जाते हो जिसमें प्रत्येक व्यष्टिगत मनोमय जगत् इस प्रकार निमग्न हो जाता है मानो वह किसी बड़े भारी समुद्र-में समा गया हो। वहां, उस भूमिकामें, दूसरेके अंदर जो कुछ हो रहा हो उसको तुम पूरा-पूरा समझ सकते हो तथा उसके मनको इस प्रकार जान सकते हो मानो वह तुम्हारा अपना ही मन हो, कारण वहां कोई पृथकत्वका भान है ही नहीं जो एक मनको दूसरे मनसे अलग करे। इस क्षेत्रमें पहुंचकर जब तुम दूसरोंके साथ एक हो जाते हो, केवल तभी तुम उनको समझ सकते हो, अन्यथा तुम उनके साथ एक-स्वर नहीं हो पाते, तुम उन्हें स्पर्श नहीं कर पाते, तुम्हारे पास ऐसा कोई साधन ही नहीं होता जिसके द्वारा तुम अपने मनके अतिरिक्त दूसरोंके मनमें जो कुछ हो रहा हो उसको ठीक-ठीक जान सको। जब तुम किसी दूसरे मनुष्यके सामने होते हो तब वह मनुष्य क्या विचार या क्या अनुभव कर रहा है इस बातका प्रायः तुम्हें कोई ज्ञान नहीं होता, किंतु यदि तुम अभिव्यक्तिकी इस बाह्य भूमिकाके परे जा सको, इसके ऊपर उठ सको, यदि तुम उस भूमिकामें प्रवेश कर सको जहां नीरव संभाषण संभव है तो तुम दूसरेके मनको उसी प्रकार जान सकोगे जिस प्रकार तुम अपने मनको जान लेते हो। तब विचारोंको व्यक्त करनेके लिये शब्दोंकी उपयोगिताका महत्त्व बहुत कम हो जाता है, कारण पूर्ण समझ तो शब्दोंके परे किसी दूसरी ही वस्तुमें रहती है और कुछ थोड़ेसे शब्द तुम्हारे प्रयोजनके लिये पर्याप्त होते हैं। वहां लंबी-लंबी व्याख्याओंकी आवश्यकता नहीं रहती, इस बातकी आव-

श्यकता नहीं होती कि किसी विचारको पूरे विस्तारसे व्यक्त किया जाय कारण वहां वक्ताके अभिप्रायका तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है।

"क्या कभी ऐसा समय भी आवेगा जब विरोधी शक्तियां रहेंगी ही नहीं ?"

जब इस जगत्‌में उनकी उपस्थितिका कोई उपयोग न रह जायगा, तब वे स्वयमेव लुप्त हो जायंगी। उनकी जो क्रिया होती है वह हमारी परखकी प्रक्रियाके तौरपर उपयोगमें लायी जाती है, जिससे कि हमारी कोई भी त्रुटि छूट न जाय, इस रूपान्तरके कार्यमें कोई भी चीज बाकी न बच जाय। उनके सामने जरासी भी भूल न चलेगी। अपनी सत्ताको रूपान्तरित करनेमें यदि तुमने कुछ भी, किसी मामूलीसे ब्योरेकी भी, अवहेलना की तो वे झट आ पहुंचेंगी और उस उपेक्षित स्थानपर अपना हाथ रखेंगी और तुम्हारे लिये उसको इतना दुःखदायी बना देंगी कि तुम उसका परिवर्तन करनेके लिये बाध्य हो जाओगे। इस प्रक्रियाके लिये जब उनकी आवश्यकता न रह जायगी तब उनका रहना निरर्थक हो जायगा और वे लुप्त हो जायंगी। भगवान्‌के इस महान् कार्यमें उनकी आवश्यकता होनेके कारण ही उनको यहां रहने दिया गया है, और जब यह आवश्यकता जाती रहेगी तब या तो वे रूपान्तरित हो जायंगी या चली जायंगी।

"क्या ऐसा होनेमें बहुत समय लगेगा ?"

यह सब तुम्हारे दृष्टिकोणपर निर्भर करता है। कारण, काल सापेक्षिक है, कालकी चर्चा कई दृष्टिकोणसे की जा सकती है, साधारण बाह्य मानव-दृष्टिसे की जा सकती है, आंतर चेतनाके गभीरतर दृष्टिकोणसे भी और भगवान्‌की दृष्टिसे भी।

यदि तुम भागवत चेतनाके साथ एक हो गये हो तो फिर किसी कार्यके किये जानेमें चाहे मनुष्यकी कालगणनाके हिसाबसे एक हजार वर्ष लग जायं या केवल एक वर्ष लगे, इसका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता; क्योंकि, उस अवस्थामें तुम मानव-प्रकृतिकी अवस्थाओंका अतिक्रमण कर भागवत प्रकृतिकी अनन्तता और शाश्वततामें प्रवेश कर जाते हो। किसी कामको शीघ्र समाप्त कर डालनेकी तीव्र व्याकुलतारूपी जिस व्याधिसे मनुष्य ग्रस्त रहते हैं–क्योंकि, वे उद्योगके परिणामको अपनी आंखोंके सामने होता हुआ देखना चाहते हैं–उससे तब तुम मुक्त रहोगे। उद्वेग, उतावली और बेचैनीसे कुछ बनता नहीं। ये तो ऐसे हैं जैसे समुद्रपर फेन, ये ऐसे महान् आडंबर हैं जो आप-से-आप समाप्त हो जाते हैं। निरन्तर दौड़-धूप और कूद-फांद किये बिना, कर्मण्यताके आवेशमें उन्मत्त होकर कुछ-न-कुछ जोड़-तोड़ लगाये बिना मनुष्योंको ऐसा जान पड़ता है मानो वे कुछ कर ही न रहे हों। परंतु इन तथाकथित हलचलोंसे वस्तुओंका परिवर्तन हो जायगा, यह समझना एक भ्रम है। यह एक ऐसी बात है जैसे कोई कटोरेको हाथमें उठा ले और उसमेंके जलको थपेड़ता रहे। अवश्य ही, इस क्रियासे जल इधर-उधर हिलेगा, किंतु तुम्हारे इतने थपेड़े खाकर भी वह रहेगा जलका जल ही। कर्म करनेका यह भ्रम मानव-प्रकृतिमें सबसे बड़े भ्रमोंमेंसे है। इससे प्रगति होनेके बजाय प्रगतिमें बाधा पहुंचती है, कारण, इस भ्रममें पड़कर तुम सदा किसी उत्तेजित गतिकी ओर दौड़ पड़नेकी आवश्यकताका बोध करने लगते हो। कितना अच्छा हो यदि तुम इस भ्रमको जान जाओ, इसकी निरर्थकता समझ जाओ और तुमको यह दिखायी देने लगे कि तुम्हारी इस दौड़-धूपसे संसारमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता। कहीं भी तुम्हें इसके द्वारा कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग इस प्रकारकी दौड़-धूप करते हैं वे ऐसी शक्तियोंके केवल खिलौने होते हैं जो उन्हें अपने आमोदके लिये नचाया करती हैं। और ये शक्तियां भी कोई उत्तम कोटिकी नहीं होतीं।

जगत्‌में जो कुछ भी किया गया है वह उन थोड़ेसे महापुरुषोंके द्वारा ही किया गया है जो क्रियाओंके परे आत्माकी नीरवतामें स्थित रह सकते हैं, कारण, ऐसे लोग ही भागवत शक्तिके उपकरण होते हैं। ये ही हैं गतिशील प्रतिनिधि, सचेतन उपकरण, ये ही उन शक्तियोंको उतारकर लाते हैं जो जगत्‌का परिवर्तन करती हैं। कार्य इसी प्रकार किया जा सकता है, न कि चंचल कर्मण्यताद्वारा। शांति, स्थिरता और नीरवताकी अवस्थामें ही जगत्‌का निर्माण हुआ था और प्रत्येक बार जब भी किसी सच्ची चीजकी रचना करनी होगी तो उसे शांति, नीरवता और स्थिरताकी अवस्थामें ही करनी होगी। यह समझना अज्ञान है कि जगत्‌में कुछ कर सकनेके लिये तुम्हें इन तरह-तरहकी निरर्थक बातोंके लिये परिश्रम करना और सुबहसे शामतक दौड़-धूप करना आवश्यक है।

चक्रवत् घूमती रहनेवाली इन शक्तियोंसे किनारा खींचकर एक बार यदि तुम शांत क्षेत्रोंमें पहुंच जाओ तो तुम देखोगे कि यह भ्रम कितना बड़ा है। तब तुम्हें मानव-जाति ऐसी दिखायी देगी मानो यह कोई अंधे प्राणियोंका समूह हो जो इस बातको जाने बिना ही कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं, इधर-उधर दौड़-धूप करते फिरते हैं और जो केवल एक दूसरोंके साथ टकराते और ठोकर खाते रहते हैं। और इसीको ये लोग 'कर्म' और 'जीवन' कहते हैं। यह तो थोथी हलचल है, कर्म नहीं, सत्य जीवन भी नहीं।

मैंने एक बार कहा था कि दस मिनटतक सार्थक रूपसे बोलनेके लिये दस दिनतक मौन रहना चाहिये। उसमें मैं यह और जोड़ दे सकती हूं कि एक दिन सार्थक रूपसे कार्य करनेके लिये एक वर्षतक शांत रहना चाहिये। अवश्य ही, यह बात मैं साधारण बाह्य जीवनके लिये आवश्यक, नित्यकी दिनचर्यासंबंधी सामान्य कार्योंके विषयमें नहीं कह रही हूं, बल्कि उनके लिये कह रही हूं जिन्हें संसारमें कुछ करना है अथवा जिनका यह विश्वास है कि वे संसारमें कुछ करनेके लिये आये हैं। और नीरवतासे मेरा अभिप्राय आंतरिक

शांतिसे है और यह उन्हींको प्राप्त हो सकती है जो अपने कर्मोंसे अपने-आपको तदाकार किये बिना, उसमें सराबोर हुए बिना तथा अपनी ही प्रवृत्तियोंके कोलाहल और रूपसे अंधे और बहरे हुए बिना ही कर्म कर सकते हों। अपने कर्मोंसे अपने-आपको अलग कर लो और इन सांसारिक प्रवृत्तियोंके परे जो एक दृष्टि है उसमें ऊपर उठो, शाश्वतकी चेतनामें प्रवेश करो। तभी तुम जान पाओगे कि सच्चा कर्म क्या है।

९

"मानव-प्रेमका भागवत प्रेमके साथ क्या संबंध है ? क्या मानव-प्रेम भागवत प्रेममें बाधक होता है ? बल्कि क्या यह ठीक नहीं है कि मानव-प्रेमको धारण करनेकी योग्यता भागवत प्रेमको धारण करनेके सामर्थ्यका सूचक है ? क्या महान् आध्यात्मिक व्यक्ति जैसे कि ईसामसीह, रामकृष्ण और विवेकानंद स्वभावतः अत्यंत प्रेमी और स्नेही नहीं हुए हैं ?"

प्रेम महान् विश्वव्यापी शक्तियोंमेंसे एक है । यह स्वतःस्थित है और जिन पदार्थोंमें यह शक्ति आविर्भूत होती अथवा जिन पदार्थोंके द्वारा अपने-आपको आविर्भूत करती है, उनसे यह सर्वथा स्वतंत्र और स्वाश्रित होकर रहती है । जहां कहीं भी यह आविर्भूत होनेकी संभावना पाती है, जहां कहीं भी इसके लिये ग्रहणशीलता होती है, जहां कहीं भी इसके लिये द्वार खुला होता है, वहीं यह आविर्भूत हो जाती है। जिसे तुम प्रेम कहते हो और जिसे तुम निजी या व्यक्तिगत वस्तुके रूपमें समझते हो वह केवल इस विश्वव्यापी शक्तिको ग्रहण करने और आविर्भूत करनेका तुम्हारा सामर्थ्यमात्र है। परंतु चूंकि यह विश्वव्यापी है इसलिये यह कोई अचेतन शक्ति नहीं है, यह तो एक परम सचेतन दिव्य शक्ति है। सचेतन होकर ही इस भूतलपर यह अपनी अभिव्यक्ति और सिद्धिके लिये प्रयत्न करती है, सचेतन होकर ही यह अपने उपकरणोंको चुनती है, जो लोग इसके आवाहनका उत्तर दे सकते हैं उन्हें यह अपनी

तरंगोंके प्रति जागृत करती है और इसका अपना जो शाश्वत लक्ष्य है उसे उनके अंदर सिद्ध करनेका प्रयास करती है और, जब किसी उपकरणको यह अनुपयुक्त पाती है तो उसको छोड़ देती है और दूसरोंको ढूंढ़नेमें लग जाती है। मनुष्य सोचते हैं कि वे एकाएक प्रेम-पाशमें बंध गये हैं, वे देखते हैं कि प्रेम उनमें उत्पन्न होता है, बढ़ता है और फिर मुरझा जाता है—अथवा यह भी होता है कि कुछ लोगोंमें, जो उसकी अधिक देरतक स्थायी रहनेवाली चेष्टाके लिये विशेष रूपसे उपयुक्त हैं, यह कुछ अधिक देरतक टिकता है। परंतु इस प्रकार प्रेम करनेमें जिन्होंने यह समझा हो कि यह उनका अपना व्यक्तिगत अनुभव था, वह तो एक भ्रम ही था। वह तो विश्वव्यापी प्रेमके सनातन समुद्रकी एक लहरमात्र थी।

प्रेम विश्वव्यापी है और सनातन है, यह सदा अपने-आपको अभिव्यक्त कर रहा है और साररूपसे सदा एकरूप है। और यह एक भागवत शक्ति है, और इसकी बाह्य क्रियाओंमें जो कुछ विकार हमें दिखायी देते हैं वे इसके उपकरणोंके होते हैं, इसके अपने नहीं। प्रेम केवल मानव-प्राणियोंमें ही अभिव्यक्त नहीं होता, यह सर्वत्र है। इसकी चेष्टा वनस्पतियोंमें भी है, शायद पत्थरोंतकमें है। पशु-पक्षियोंमें इसकी उपस्थितिका पता पाना सहज है। इस महान् और दिव्य शक्तिमें जो कुछ भी विकार पैदा होते हैं उनका कारण इसके परिमित उपकरणोंकी मलिनता, अज्ञान और स्वार्थ है। प्रेममें, इस शाश्वत शक्तिमें न कोई पकड़ है न कोई इच्छा, स्वत्वके लिये न कोई भूख है न आत्म-सम्मानके लिये किसी प्रकारकी आसक्ति। इसकी जो विशुद्ध क्रिया होती है उसमें इसका स्वरूप है आत्माका परमात्मासे मिलाप हो इस बातकी खोज, यह एक ऐसी खोज होती है जो अन्य समस्त वस्तुओंसे निरपेक्ष और निर्लिप्त रहती है। भागवत प्रेम तो अपने-आपको दे देना भर जानता है, वह कुछ भी मांग नहीं करता। मनुष्योंने इसको क्या बना डाला है यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। उन्होंने इसको एक भद्दी और

बीभत्स वस्तुके रूपमें परिणत कर दिया है। फिर भी, मनुष्योंमें भी, प्रेमका जो प्रथम संस्पर्श होता है उसमें यह अपने पवित्रतर सारका कुछ अंश ले ही आता हैं। क्षणभरके लिये वे अपने-आपको भुला देनेमें समर्थ हो जाते हैं, इसका दिव्य स्पर्श, उस सबको जो कुछ उनमें सुंदर और मनोहर है उसे कुछ देरके लिये जागृत और वर्धित कर देता है। परंतु बादमें मानव-प्रकृति, अपनी अपवित्र मांगोंसे भरी हुई, बदलेमें किसी चीजकी याचना करती हुई, जो कुछ वह देती है उसके बदलेमें कुछ पानेकी आशा रखती हुई, अपनी निकृष्ट तृप्तियोंके लिये शोर मचाती हुई और जो कुछ दिव्य था उसे विकृत और कलुषित करती हुई, ऊपरी तलपर उठ आती है।

भागवत प्रेमको अभिव्यक्त करनेके लिये यह आवश्यक है कि तुममें उसको ग्रहण करनेकी क्षमता हो। क्योंकि इस प्रेमको वे ही लोग अभिव्यक्त कर सकते हैं जिनके द्वार इसकी नैसर्गिक प्रवृत्तिके लिये स्वभावतः खुले होते हैं। यह उद्‌घाटन जितना ही विशाल और अबाध होता है उतना ही वे दिव्य प्रेमको उसकी मौलिक पवित्रताके साथ अभिव्यक्त कर सकते हैं। और, जितना ही यह निम्नतर मानव-भावोंसे मिश्रित होता है, उतना ही अधिक विकार इसकी अभिव्यक्तिमें आ जाता है। जो व्यक्ति प्रेमको उसके असली और सत्य रूपमें ग्रहण करनेके लिये खुला हुआ नहीं है वह भगवान्‌के समीप नहीं पहुंच सकता। ज्ञानमार्गके अनुयायी भी एक समय एक ऐसे स्थलपर जा पहुंचते हैं, जहांसे यदि वे आगे बढ़ना चाहें तो उन्हें ज्ञानके साथ-साथ प्रेम-जगत्‌में प्रवेश करना पड़ता है और वहां उनको प्रेम और ज्ञान, दोनों एक ही है ऐसा अनुभव होता है और ज्ञान भगवान्‌के साथ एक हो जानेके प्रकाशके रूपमें अनुभव होता है और प्रेम ज्ञानके प्राणके रूपमें। आत्माकी ऊर्ध्व प्रगतिमें एक ऐसा स्थान आता है जहां ये दोनों मिल जाते हैं और तुम एकको दूसरेसे अलग नहीं कर सकते। आरंभमें इन दोनोंके बीच तुम जो विभाग या भेद करते हो वह मनकी रचना है, किंतु जहां तुम उच्चतर भूमिकामें ऊपर

उठे कि ऐसे भेद गायब हो जाते हैं।

जो लोग यहां, इस जगत्में भगवान्को प्रत्यक्ष करने और इस पार्थिव जीवनको रूपान्तरित करनेके लिये आये, उनमें कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने दिव्य प्रेमको अधिक पूर्णताके साथ अभिव्यक्त किया है। कुछमें इस अभिव्यक्तिकी पवित्रता इतनी अधिक हुई है कि समग्र मानव-जाति उनको नहीं समझ सकी है। यहांतक हुआ है कि उनपर कठोर और प्रेमशून्य होनेका दोष लगाया गया है, यद्यपि दिव्य प्रेम उनमें विद्यमान है। परंतु उनमें इसका रूप भी इसके सत्वकी तरह ही दिव्य होता है, मानव नहीं। मनुष्य जब प्रेमका नाम लेता है तो वह इसे भावावेश और भावावेगजनित दुर्बलताके साथ जोड़ देता है। परंतु आत्म-विस्मृतिकी दिव्य प्रगाढ़ता, किसी संकोचके बिना और अपने लिये कुछ भी बचाकर रखे बिना, बदलेमें कुछ भी मांगे बिना, एक भेंटके तौरपर अपने-आपको पूर्ण रूपसे न्योछावर कर देनेकी शक्ति— यह मानव जीवोंको अज्ञातसी है। और, जब यह भागवत प्रेम दुर्बल भावावेगजनित भावावेशोंसे रहित, अपने सत्य स्वरूपमें उपस्थित होता है तब इसको लोग निष्ठुर और नीरस पाते हैं, इसमें प्रेमकी जो उच्च-तम और तीव्रतम शक्ति है उसको वे पहचान नहीं पाते।

भगवान्के प्रेमकी जगत्में अभिव्यक्ति, यह उनकी महान् आहुति थी, उनका परम आत्म-दान था। परिपूर्ण चेतनाने जड़प्रकृतिकी अचेतनामें निमग्न और विलीन होना इसलिये स्वीकार किया जिससे कि अंधकारकी गहराइयोंमें भी चेतना जागृत की जा सके और दिव्य शक्ति उनमें शनैः-शनैः उदित हो सके तथा इस नामरूपात्मक समग्र विश्व-ब्रह्मांडको दिव्य चेतना और भागवत प्रेमकी एक सर्वोत्कृष्ट प्रतिमा बनायी जा सके। यही परम प्रेम था, अर्थात् अपनी परम दिव्यतामयी परिपूर्ण अवस्थाकी, उसकी निरपेक्ष चेतनाकी, उसके अनन्त ज्ञानकी हानिको स्वीकार करना, अचेतनाके साथ एक हो जाना तथा अज्ञान और अंधकारसे भरे हुए इस जगत्में वास करना। और फिर भी शायद लोग इसको प्रेम नहीं कहेंगे, कारण यह अपने-आपको

ऊपरी भावनाओंसे आच्छादित नहीं करता, इसने जो कुछ किया है उसके बदलेमें यह कोई मांग नहीं रखता, अपने बलिदानका यह कोई प्रदर्शन नहीं करता।

जगत्‌में जो प्रेम-शक्ति है वह उन चेतनाओंकी खोजमें लगी हुई है जिनमें यह सामर्थ्य हो कि वे इस भागवत गतिको इसके विशुद्ध रूपमें ग्रहण कर सकें और इसको अभिव्यक्त कर सकें। समस्त जीवोंकी प्रेमके लिये जो यह दौड़ है, समस्त जीवोंके हृदयोंमें तथा जगत्‌के हृदयमें प्रेमके लिये जो यह अदम्य आवेग है और इसकी जो खोज है, वह उस भागवत प्रेमकी प्रेरणाके कारण ही है जो मनुष्यकी समस्त कामना और खोजके पीछे वर्त्तमान है। प्रेम-शक्ति करोड़ों उपकरणोंका स्पर्श करती है, सदा उन्हें तैयार करनेका प्रयत्न करती है, सदा असफल होती है, किंतु इसका यह बार-बार स्पर्श करना उन उपकरणोंको तैयार कर रहा है और एक दिन आयेगा जब कि सहसा उनमें आत्म-दान करने और प्रेम करनेकी शक्ति जागृत हो जायगी।

प्रेमकी गति मनुष्योंतक ही परिमित नहीं है और मानव-जातिकी अपेक्षा अन्य सृष्टियोंमें संभवतः यह कम विकृत अवस्थामें है। पुष्पों और वृक्षोंको देखो। जब सूर्य अस्त हो जाता है और सब कुछ नीरव हो जाता है, तब क्षणभरके लिये शांत होकर बैठो और अपने-आपको प्रकृतिके साथ एक कर दो, तुम यह अनुभव करोगे कि पृथिवीसे, वृक्षोंकी जड़के नीचेसे, प्रगाढ़ प्रेम और कामनासे पूर्ण एक अभीप्सा ऊपर उठ रही है और यह अभीप्सा ऊपरकी ओर बढ़ती हुई तथा वृक्षोंके तंतुओंमेंसे संचार करती हुई उनकी उच्चतम शाखाओंतकमें हो रही है—कामना उस किसी वस्तुके लिये जो प्रकाशको लाती और सुख फैलाती है, उस प्रकाशके लिये जो चला गया है और जिसको वे चाहते हैं कि फिर लौट आये। वहां यह चाह इतनी पवित्र और तीव्र होती है कि यदि तुम वृक्षोंमें जो यह गति होती है उसे अनुभव कर सको, तो तुम्हारी अपनी सत्ता भी उस शांति और प्रकाश और प्रेमके लिये, जो यहां अभीतक अभिव्यक्त नहीं है, हार्दिक प्रार्थना करने लग जायगी।

एक बार भी यदि तुम इस विशाल, विशुद्ध और सत्य दिव्य प्रेमके संस्पर्शमें आ जाओ, यदि तुम इसको थोड़ीसी देरके लिये भी और इसके लघुतम रूपका ही अनुभव कर पाओ, तो तुम यह अनुभव कर लोगे कि मनुष्यकी वासनाने इसके स्वरूपको कितना नीच बना डाला है। मानव-प्रकृतिमें यह क्षुद्र, पाशविक, स्वार्थमय, हिंसात्मक और कुरूप हो गया है, या फिर यह दुर्बल और भावुक, अत्यंत तुच्छ भावोंसे भरा हुआ, क्षणभंगुर, बाहरी और चूसनेवाला बन गया है। और इस नीचता और पशुताको अथवा इस आत्म-स्वार्थसे भरी हुई दुर्बलताको लोग प्रेम कहते हैं!

"क्या हमारी प्राणमय सत्ताको दिव्य प्रेमके आविर्भावमें भाग लेना है? यदि हां, तो इसके शरीक होनेका उचित और ठीक रूप क्या है?"

भागवत प्रेमकी अभिव्यक्ति अमुक स्थानपर आकर रुक जाय, क्या ऐसा कुछ अभिप्रेत हो सकता है? क्या इसकी अभिव्यक्ति किन्हीं अमूर्त्त या अपार्थिव क्षेत्रोंतक ही सीमित रहनेवाली है? भागवत प्रेमकी अभिव्यक्तिका जो प्रवाह पृथिवीपर होता है वह अत्यंत जड़-प्राकृतिक पदार्थतकमें पहुंचता है। अवश्य ही यह ठीक है कि मानव-चेतनाके स्वार्थमय विकारोंमें हम इसको नहीं पा सकते, किंतु स्वयं प्राण-तत्त्वका एक प्रमुख स्थान जैसा कि समग्र अभिव्यक्त जगत्-में है, वैसा ही दिव्य प्रेममें भी है। प्राणके माध्यमके बिना गति और प्रगति नहीं हो सकती, किंतु चूंकि प्रकृतिकी यह शक्ति इतनी बुरी तरहसे विकृत की जा चुकी है इसलिये कुछ लोग इस विश्वासको तरजीह देते हैं कि इस तत्त्वको जड़से ही उखाड़कर फेंक देना चाहिये। परंतु आत्मामें रूपान्तर करनेकी जो शक्ति है वह प्राणके द्वारा ही जड़प्रकृति-का स्पर्श करती है। यदि प्राण अपनी गतिशीलता और जीवंत शक्ति-को जड़प्रकृतिमें संचारित करनेके लिये वहां न हो तो जड़प्रकृति मुर्दा

ही बनी रहेगी, कारण, सत्ताके उच्चतर भाग पृथिवीके साथ संबंध स्थापित नहीं कर सकेंगे, वे सजीव और सशरीर मूर्त्तियां नहीं बन सकेंगे और वे असंतुष्ट लौट जायंगे तथा अंतर्हित हो जायंगे।

जिस भागवत प्रेमके संबंधमें मैं कह रही हूं वह एक ऐसा प्रेम है जो यहां इस भौतिक पृथिवीपर, इस जड़प्रकृतिमें अभिव्यक्त हो रहा है, किंतु इसको मानव-विकारोंसे बचाकर सर्वथा विशुद्ध बनाये रखना होगा, जिससे कि वह यहां मूर्त्त रूप धारण कर सके। अन्य सभी अभिव्यक्तियोंकी तरह इस अभिव्यक्तिके लिये भी प्राण एक अनिवार्य साधन है। परंतु जैसा कि हरएक बातमें हुआ है वैसा ही यहां भी, इस अमूल्य वस्तुपर विरोधी शक्तियोंने अपना अधिकार जमा लिया है। यह प्राणकी शक्ति ही है जो इस मंद और संवेदनशून्य जड़प्रकृतिके अंदर प्रविष्ट होती है और उसे संवेदनक्षम तथा सजीव बना देती है। परंतु विरोधी शक्तियोंने इसको विकृत कर दिया है, उन्होंने इसको हिंसा, स्वार्थ, कामना तथा हर प्रकारके भद्देपनका एक क्षेत्र बना दिया है, इसको भागवत कर्ममें भाग लेनेसे रोक दिया है। अब जो कुछ करना है वह केवल यही है कि हम इसको रूपान्तरित करें, यह नहीं कि हम इसकी गतिका निग्रह करें अथवा इसको नष्ट कर दें। कारण प्राणके बिना कहीं भी कोई तीव्रता नहीं आ सकती। हमारे अंदर जो वस्तु ऐसी है जिसका स्वभाव ही अपने-आपको दे देना है, वह प्राण ही है। चूंकि प्राण ही वह तत्त्व है जिसमें किसी चीजको लेनेकी प्रेरणा तथा शक्ति सदा रहती है, इसी कारण जो वस्तु अपने-आपको संपूर्ण रूपसे उत्सर्ग कर सकती है, वह भी प्राण ही है। चूंकि प्राण यह जानता है कि स्वत्व कैसे रखा जाय, इसलिये वह यह भी जानता है कि बिना कुछ बचाये हुए अपने-आपको कैसे दे दिया जाय। प्राणकी जो सत्य गति है वह सभी गतियोंमें अत्यंत सुन्दर और अत्यंत उत्कृष्ट है, किंतु तोड़-मरोड़कर इसे अत्यंत भद्दी, अत्यंत विरूप और अत्यंत घृणास्पद बना दिया गया है। मानवप्रेम-संबंधी कथाओंमें जहां कहीं शुद्ध प्रेम-का अणुमात्र भी प्रवेश कर पाया है और उसे बहुत अधिक विकारके

बिना अभिव्यक्त होने दिया गया है, वहीं हमें एक सत्य और सुन्दर वस्तु दीख पड़ती है। और यदि यह गति अधिक देरतक नहीं ठहरती तो इसका कारण यह है कि यह अपने उद्देश्य और खोजसे सचेतन नहीं है, इसको इस बातका ज्ञान नहीं है कि इसकी खोजका विषय एक जीवकी दूसरे जीवके साथ एकता नहीं है, बल्कि इसकी खोजका विषय है समस्त जीवोंकी भगवान्‌के साथ एकता।

प्रेम एक परम शक्ति है जिसे शाश्वत चेतनाने अपने-आपमेंसे बाहर निकालकर अज्ञान और अंधकारको प्राप्त इस जगत्‌में इसलिये भेजा कि वह इस जगत्‌को और इसके जीवोंको भगवान्‌के पास लौटा लावे। अज्ञान और अंधकारमें डूबा हुआ यह जड़प्राकृतिक जगत् भगवान्‌को भूल चुका था। प्रेम इस अंधकारमें अवतरित हुआ और जो कुछ यहां प्रसुप्त पड़ा था उसे इसने जगाया, जो कान मुहर लगे हुए बंद पड़े थे उनको इसने खोला और उनमें यह संदेश फूंका कि "ऐसी कोई वस्तु है जिसके प्रति जागृत होना चाहिये, जिसके लिये जीना चाहिये, और वह वस्तु प्रेम है।" और, प्रेमके प्रति इस जागृतिके साथ-साथ भगवान्‌के पास लौट चलनेकी संभावना भी इस जगत्‌में प्रविष्ट हुई। प्रेमके द्वारा सृष्टि भगवान्‌की ओर ऊर्ध्वगामी होती है और इसके प्रत्युत्तरमें भागवत प्रेम और भागवत प्रसाद सृष्टिसे मिलनेके लिये नीचेकी ओर नत होते हैं। जबतक यह आदान-प्रदान न हो, परमात्मा और पृथिवीका यह पारस्परिक मिलन न हो, भगवान्‌की ओरसे सृष्टिके प्रति और सृष्टिकी ओरसे भगवान्‌के प्रति प्रेमकी यह गति न हो तबतक प्रेम अपने शुद्ध सौंदर्यमें नहीं रह सकता, प्रेम अपनी नैसर्गिक शक्तिका और अपनी पूर्णताके प्रगाढ़ आनंदका संचार नहीं कर सकता।

जबतक दिव्य प्रेम इसमें अवतरित नहीं हुआ था और उसने इसको जागृत करके इसमें जीवन नहीं दिया था तबतक यह संसार एक निर्जीव जड़प्रकृतिका संसार था। परंतु जबसे इसको जीवन प्राप्त हुआ है तभीसे यह जगत् जीवनके इस दिव्य आदिस्रोतकी खोजमें लग गया है, किंतु अपनी इस खोजमें इसने नाना प्रकारकी भूलें की हैं और बारं-

बार यह उलटे रस्ते पड़ गया है, अंधेरेमें इधर-से-उधर भटकता फिरता रहा है। इस सृष्टिकी जनता किसी अज्ञातको खोजनेवाले एक अंधेकी तरह अपने मार्गपर चली है, इसमें एक खोज तो है पर वह यह नहीं जानती कि वह क्या खोज रही है। अधिक-से-अधिक जो कुछ इसने प्राप्त किया है, जो मानव-प्राणियोंको प्रेमका उच्चतम स्वरूप दिखायी देता है, जो उनकी समझमें शुद्धतम और निःस्वार्थतम प्रकारका प्रेम है, वह प्रेमका वह स्वरूप है जो माताका अपने बच्चेके प्रति होता है। प्रेमकी जो यह मानव गति है वह अबतक उसने जो कुछ पाया है उससे इतर किसी वस्तुको गुप्त रूपसे ढूंढ रही है, किंतु उसको यह नहीं मालूम कि वह वस्तु उसको कहां मिलेगी, वह यह भी नहीं जानती कि वह वस्तु क्या है। ज्योंही मनुष्यकी चेतना दिव्य प्रेमके प्रति जागृत होती है, उस प्रेमके प्रति जो शुद्ध है, जो मानव-रूपोंमें हुई सर्वविध अभिव्यक्तिसे स्वतंत्र है, त्योंही वह उस वस्तुको जान जाती है जिसके लिये वास्तवमें उसका हृदय इतने समयसे तरस रहा था। यही है आत्माकी अभीप्साका आरंभ, जिसके फलस्वरूप चेतनामें जागृति होती है और भगवान्‌के साथ एकता प्राप्त करनेके लिये लालसा उत्पन्न होती है। जहां यह अभीप्सा हुई कि अज्ञानसे उत्पन्न जो रूप हैं, उसके लादे हुए जो विकार हैं वे मुरझा जायंगे और वे लुप्त हो जायंगे, और इन सबके स्थानपर सृष्टिकी एक ही प्रकारकी गति होने लगेगी जो भागवत प्रेमकी पुकारका उत्तर भगवान्‌के प्रति अपने प्रेमके द्वारा देती रहेगी। ज्योंही सृष्टि भगवान्‌को प्रेम करनेके लिये उन्मुख, सचेतन और जागृत हो जाती है त्योंही भागवत प्रेम सृष्टिमें फिरसे अपनी असीम वर्षा करने लगता है। गतिचक्र अंतर्मुखी हो जाता है और इसके दोनों छोर आपसमें मिल जाते हैं, चरम तत्त्व, अर्थात् परम आत्मा और विकासोन्मुख जड़प्रकृति एक हो जाते हैं तथा इनका दिव्य मिलन पूर्ण और स्थायी हो जाता है।

दिव्य प्रेमकी परम पवित्रता और शक्तिके कुछ अंशको यहां उतार लानेके लिये महान् आत्माओंने इस संसारमें जन्म लिया है। या यों

कहें कि इस संसारमें अपनी सिद्धिको एक साथ सहजतर और पूर्णतर करनेके लिये भागवत प्रेमने इन लोगोंके द्वारा अपने-आपको व्यक्तिगत रूपमें आविर्भूत किया है। भागवत प्रेम जब किसी शरीरधारी व्यक्तिमें आविर्भूत होता है तब इसको अनुभव करना अधिक सुगम होता है, किंतु जब इसकी गति अप्रकट या नैर्व्यक्तिक होती है तब इसे अनुभव करना अधिक कठिन होता है। जो मनुष्य इस व्यक्तिगत स्पर्शके कारण, इस व्यक्तिगत प्रगाढ़ताके साथ भागवत प्रेमकी चेतना-की ओर जागृत होगा, वह यह अनुभव करेगा कि उसका कार्य और उसका रूपांतर अधिक सुगम बन गया है एवं जिस एकताको वह खोज रहा है वह उसके लिये अधिक स्वाभाविक और अधिक निकट हो गयी है। और यह एकता, यह आत्म-साक्षात्कार उसके लिये पूर्णतर और सिद्धतर हो जायगा; कारण, एक विराट् तथा नैर्व्यक्तिक प्रेमकी विशाल एकरूपता उसमें प्रकाशमान हो जायगी और वह भगवान्से जितने प्रकारके संबंध संभव हैं उन सबके रूप और सौंदर्यसे सजीव हो जायगी।

१०

"धर्मका यथार्थ स्वरूप क्या है ? क्या धर्म आध्यात्मिक जीवनके मार्गमें बाधक है ?"

धर्म मानव-जातिके उच्चतर मनकी चीज है, मनुष्यके उच्चतर मनकी जो चेष्टा है, जिसके द्वारा वह अपनी शक्तिभर अपनेसे परेकी किसी वस्तुको प्राप्त करना चाहता है, उस वस्तुको, जिसे मानव-जाति ईश्वर, परमात्मा, सत्य, श्रद्धा या ज्ञान, अनंत, किसी प्रकारकी निरपेक्ष सत्ताके नामसे पुकारती है, जहांतक मानव-मनकी पहुंच नहीं होनेपर भी वह जहां पहुंचनेकी चेष्टा करता रहता है–इस चेष्टाका नाम ही धर्म है। धर्मका जो मूल स्रोत है उसमें वह भले ही दिव्य हो, किंतु इसका जो प्रकट रूप है वह दिव्य नहीं है, बल्कि मानव ही है। वास्तवमें, हमें धर्मकी जगह धर्मोंकी बात कहनी चाहिये, कारण, मनुष्यके बनाये हुए धर्म अनेक हैं। इन विभिन्न धर्मोंकी रचना एक ही मूलसे उद्भूत न होनेपर भी प्रायः एक ही प्रकारसे हुई है। ईसाई-धर्मकी स्थापना किस प्रकार हुई यह हमें ज्ञात है। जो धर्म ईसायतके नामसे विख्यात है निःसंदेह उसकी रचना ईसामसीहने नहीं की थी, बल्कि कतिपय विद्वान् और अत्यंत चतुर मनुष्योंने मिलकर इस धर्मको इस रूपमें, जिस रूपमें आज यह हमारे सामने है, रच डाला है। जिस प्रकार इसकी रचना की गयी उसमें कहीं भी दिव्यताका लेशमात्रतक नहीं था, और जिस रूपमें यह कार्य कर रहा है उसमें भी दिव्यताका कोई नाम-निशान नहीं है। और फिर भी जिस बहाने या जिसे निमित्त बनाकर इस धर्मकी

स्थापना की गयी वह असंदिग्ध रूपसे कोई प्रकाश था जो एक ऐसे पुरुषके द्वारा आया था जिसे दिव्य पुरुष कहा जा सकता है, ऐसा पुरुष जो किसी दूसरे लोकसे यहां आया तथा किसी उच्चतर भूमिकाके ज्ञान और सत्यको इस पृथिवीके लिये अपने साथ उतार लाया। वह आया और उसने अपने सत्यकी प्रतिष्ठाके लिये कष्ट झेले, किंतु ऐसे लोग विरले ही होंगे जिन्होंने उसकी वाणीको ठीक-ठीक समझा हो और ऐसे लोग भी इने-गिने ही हुए जिन्होंने सत्यको, जिसके लिये इस दिव्य पुरुषने कष्ट झेले थे, पाने और उसपर आरूढ़ रहनेकी परवा की।

गौतम बुद्ध संसारसे अलग होकर एकांतमें चले गये, ध्यान लगाकर बैठे और संसारके कष्ट और दुःखोंसे, यह सब जो रोग और मृत्यु और इच्छा और पाप और क्षुधा है उससे त्राण पानेका एक मार्ग ढूंढ़ निकाला। उनको एक सत्यका दर्शन हुआ और उन्होंने इस बातकी चेष्टा की कि वे इस सत्यको अपने इर्द-गिर्द जमा हुए हुए अनुयायियों और शिष्योंको बता और दे दें। परंतु उनके देहत्याग करनेसे पहले, उनके जीवन-कालमें ही उनकी शिक्षाका तोड़-मरोड़ किया जाना और विकृत किया जाना आरंभ हो गया था। और बादमें, बुद्धके प्रयाणके बाद ही यह हुआ कि बौद्धधर्म एक सुव्यवस्थित धर्मके रूपमें जगत्के सामने आया, जिसकी स्थापना बुद्धके कल्पित कथनोंके, उनके कथनोंका जो स्वरूप दंतकथाओंके रूपमें प्रचारित हुआ था उसके कल्पित अर्थके आधारपर हुई। परंतु शीघ्र ही, चूंकि उनके शिष्य तथा उनके शिष्योंके शिष्य, अपने गुरुकी शिक्षा क्या थी अथवा उनके उपदेशोंका यथार्थ अर्थ क्या था उसके संबंधमें एकमत न हो सके, इसलिये मूल बौद्धधर्मकी अनेक शाखा-प्रशाखाएं हो गयीं—हीनयान, महायान तथा सुदूरपूर्व एशियाके बौद्धपंथ आदि, कई मत हो गये, जिनमेंसे प्रत्येकका यह दावा है कि उसके मतमें ही बुद्धकी मूल और निर्मल शिक्षा विद्यमान है।

ईसामसीहकी शिक्षाकी भी यही दशा हुई, इसको भी उपर्युक्त प्रकारसे ही एक नियमबद्ध और संगठित धर्मका रूप दिया गया। बहुधा लोग यह कहा करते हैं कि यदि ईसामसीह इस पृथ्वीपर फिरसे

लौटकर आवें और अपनी शिक्षाको उसके वर्तमान रूपमें, लोगोंने जो रूप उसपर लाद दिया है उसमें देखें, तो वे उसको पहचान भी न सकेंगे, और यदि बुद्ध भगवान् फिरसे यहां आवें और उनकी शिक्षाकी जो दशा कर दी गयी है उसको देखें तो वे निरुत्साहित हो तुरत निर्वाण-की ओर लौट जायंगे। सभी धर्मोंकी कथा इसी प्रकारकी है। सभी धर्मोंका जन्म किसी महान् जगद्गुरुके आविर्भावको लेकर होता है। ये जगद्गुरु इस पृथ्वीपर आते हैं, सत्यको प्रकाशित करते हैं और स्वयं किसी भागवत सत्यके मूर्तिमान अवतार होते हैं। परंतु मनुष्य इस सत्यपर अपना ही कब्जा जमा लेते हैं, इसपरसे वे एक रोज-गार खड़ा कर लेते हैं और इसके द्वारा वे एक राजनीतिक संगठनसा बना लेते हैं। ये लोग धर्मके साथ किसी शासन-तंत्रको, किसी नीतिको तथा कुछ कायदे-कानूनोंको जोड़ देते हैं, जिनके अपने सिद्धांत और नियम, विधि और व्यवस्था, शास्त्रोक्त कर्म और उत्सव होते हैं, जिनका अनुसरण और पालन करना उस धर्मके अनुयायीके लिये फर्ज होता है। इनमें कोई हेर-फेर नहीं हो सकता और ये अनुल्लंघनीय होते हैं। रियासतकी तरह इसमें भी सच्चे भक्तोंको पुरस्कार दिया जाता है और विद्रोह करनेवालों तथा उन्मार्गगामियोंको, धर्म-विरोधियों और धर्मत्यागियोंको सजा।

इन नियमित रूपसे स्थापित हुए हुए सभी धर्मोंकी ओरसे जो पहली और मुख्य बात सदा कही जाती है वह यह है कि "यही धर्म सर्वोत्तम है, सत्य केवल इसी धर्ममें है, बाकीके सभी धर्म या तो भ्रममें हैं या निम्नकोटिके हैं।" कारण, इस प्रकारके सिद्धांतको आधार बनाये बिना ये व्यवस्थित विश्वासपरक धर्म टिक ही नहीं सकते। यदि तुम्हारा इस बातमें विश्वास न हो, यदि तुम इस बातकी घोषणा न करो कि वह अद्वितीय या उच्चतम सत्य तुम्हारे ही पास है तो तुम दूसरोंपर प्रभाव नहीं डाल सकोगे और अपने इर्द-गिर्द उनकी एक मंडली नहीं बना सकोगे।

इस प्रकारका भाव धार्मिक मनके लिये स्वाभाविक है, किंतु इस

तरहके भावके कारण ही धर्म आध्यात्मिक जीवनके लिये बाधक हो जाता है। धर्मके सिद्धांत और नियम मानव-मनके बनाये हुए हैं, और यदि तुम इनसे चिपके रहो तथा मनुष्यकी जीवनचर्याके लिये इनमें जो व्यवस्था है उसके अंदर अपने-आपको बंद कर रखो तो तुम उस आत्माके सत्यको, जो समस्त नियमों और सिद्धांतोंसे परे है, जो विशाल है और महत् है और स्वतंत्र है, नहीं जानोगे, नहीं जान सकोगे। जब तुम किसी धार्मिक मतवादमें, केवल उसीको संसारका एकमात्र सत्य मानते हुए, रुक जाते हो और उसके साथ अपने-आपको बांध लेते हो तो तुम अपने अंतरात्माकी उन्नति और विस्तारको अटका देते हो।

परंतु धर्मको यदि तुम दूसरे ही दृष्टिकोणसे देखो तो यह जरूरी नहीं है कि सभी मनुष्योंके लिये यह सदा बाधक रूप ही हो। यदि तुम धर्मको ऐसा समझो कि यह मानव-जातिकी उच्चतर प्रवृत्तियोंमेंसे है, यदि इसके अंदर तुम मनुष्यकी अभीप्साओंको देख सको, पर साथ ही इस बातको भूल न जाओ कि मनुष्यकी बनायी हुई सभी चीजें आखिर अपूर्ण ही हैं, तो यह तुम्हें आध्यात्मिक जीवनतक पहुंचनेम सहायक रूप ही सिद्ध होगा। धर्मको गभीर और सच्ची लगनके साथ स्वीकार कर तुम उसके अंदर यह खोजनेका प्रयास कर सकते हो कि उसमें सत्य क्या है, उसके अंदर कौनसी अभीप्सा छिपी पड़ी है, मनुष्यके मन और मनुष्यके संगठनद्वारा भगवान्‌की कौनसी दिव्य प्रेरणाको वहां परिवर्तित और विकृत होना पड़ा है, और फिर यदि तुम उपर्युक्त बौद्धिक दृष्टिकोणको बनाये रखकर आगे बढ़ो तो अपने वर्तमान विकृत रूपमें भी धर्म तुम्हारे मार्गमें कुछ प्रकाश ही डालेगा और तुम्हारे आध्यात्मिक प्रयासमें कुछ-न-कुछ सहायता ही करेगा।

सभी धर्मोंमें ऐसे लोग हमें सदा मिलते हैं जिनमें भावपूर्ण होनेकी बड़ी भारी क्षमता होती है और जो सच्ची और ज्वलंत अभीप्सासे ओत-प्रोत होते हैं। परंतु उनकी बुद्धि बहुत ही सरल होती है और वे भगवान्‌तक ज्ञानके द्वारा पहुंचनेकी आवश्यकताका अनुभव नहीं

करते। जिनकी प्रकृति इस प्रकारकी है उनके लिये धर्मका एक उपयोग है, इतना ही नहीं बल्कि उनके लिये यह एक आवश्यक वस्तु है, कारण, मंदिरोंके उत्सवों आदि जैसी बाह्य प्रथाओंके द्वारा यह उनकी आंतरिक आध्यात्मिक अभीप्साको एक प्रकारका सहारा और मदद पहुंचाता है।

सभी धर्मोंमें कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने अपने उच्च आध्यात्मिक जीवनका विकास किया है। परंतु उनकी इस आध्यात्मिकताके विकासका कारण उनका धर्म नहीं है, बल्कि उन्होंने ही अपने धर्ममें अपनी आध्यात्मिकताका समावेश किया है। ये लोग कहीं भी रहते, किसी भी संप्रदायमें पैदा हुए होते, वहां ही उनको उसी आध्यात्मिक जीवनकी प्राप्ति हुई होती। वे जो कुछ भी हैं उसको बनाया है उनके अपने सामर्थ्यने, उनकी अपनी अंतःसत्ताकी किसी शक्तिने, न कि जिस धर्मको उन्होंने स्वीकार किया उस धर्मने। अंतरात्माकी यह शक्ति उनमें इतनी बलवान् है कि धर्म उनके लिये गुलामी या बंधनका कारण नहीं होता। परंतु उनका मन चूंकि बलवान्, स्पष्ट और क्रियाशील नहीं होता, इसलिये उन्हें इस बातकी आवश्यकता होती है कि वे ऐसा विश्वास करें कि इस या उस संप्रदायमें ही निरपेक्ष सत्य है और बिना किसी विचलित कर देनेवाली शंका या संदेहके वे अपने-आपको उसपर न्योछावर कर दें। सभी धर्मोंमें मैंने इस तरहके लोगोंको पाया है, और इन लोगोंकी श्रद्धाको डिगाना तो अपराध ही होगा। इस तरहके लोगोंके लिये धर्म बाधक नहीं है। धर्म तो उनके लिये बाधक है जिनमें और आगे बढ़नेकी क्षमता है, किंतु वे लोग जो और आगे नहीं बढ़ सकते, पर फिर भी आत्माके मार्गपर कुछ दूरतक चल सकते हैं, उनके लिये तो धर्म बहुधा सहायक ही होता है।

धर्मके कारण निकृष्टतम और उत्कृष्टतम दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियोंको ही प्रोत्साहन मिला है। एक ओर यदि इसके नामपर अत्यंत खूंखार युद्ध लड़े गये हैं और अत्यंत भयंकर सितम ढाये गये हैं तो दूसरी ओर इसने धर्मकार्यके निमित्त परम शौर्य और आत्मबलिदानके भावों-

का भी पोषण किया है। मनुष्यके मनने अपनी उच्चतम कर्मण्यताओंके द्वारा जो कुछ प्राप्त किया है, दर्शनशास्त्रके समान ही धर्म भी उसकी सीमा बांधता है। यदि तुम धर्मके बाह्य रूपके गुलाम हो जाओ तो यह एक अंतराय है, एक बंधन है, किंतु इसके अंदर जो सार है उसका उपयोग करना यदि तुम सीख जाओ तो आध्यात्मिक भूमिकामें ऊपर कूद जानेके लिये यह तुम्हें सहारा दे सकेगा।

जो कोई किसी विशेष मतमें विश्वास रखता है अथवा जिस किसीने सत्यके कुछ अंशको प्राप्त किया है, वह ऐसा सोचने लगता है कि सत्यको, समग्र और पूर्ण सत्यको, केवल उसीने पाया है। मानव-स्वभाव ही ऐसा है। मानव-प्राणियोंको अपने पैरपर खड़े होनेके लिये और अपने मार्गपर चलनेके लिये मिथ्यात्वकी मिलावट आवश्यक-सी प्रतीत होती है। और यदि सत्यका दर्शन करनेके लिये उन्हें एकाएक चक्षु दे दिये जायं तो वे उस बोझके नीचे कुचल जायंगे।

प्रत्येक बार जब-जब भागवत सत्य एवं भागवत शक्तिका कुछ अंश पृथिवीपर आविर्भूत होनेके लिये अवतरित होता है, तब-तब पार्थिव वातावरणमें कुछ परिवर्तन होता है। वे सभी जो ग्रहणशील हैं, इस अवतरणके फलस्वरूप किसी दिव्य प्रेरणाकी ओर उन्मुख हो जाते हैं, किसी स्पर्शको प्राप्त करते हैं, उनकी दिव्य दृष्टिके खुल जानेका एक हलकासा प्रारंभ हो जाता है। यदि उनमें इस बातकी क्षमता हो कि जो कुछ वे प्राप्त करते हैं उसको यथार्थ रूपमें धारण और अभिव्यक्त कर सकें तो वे कहेंगे कि 'एक महान् शक्तिका अवतरण हुआ है, मैं उसके संस्पर्शमें हूं और उसके बारेमें मैंने जो कुछ समझा है वह मैं तुमसे कहूंगा।' परंतु अधिकांश व्यक्ति, उनके मनकी अवस्था संकुचित होनेके कारण ऐसा नहीं कर पाते। उन्हें एक प्रकाश मिलता है और वे उससे अभिभूत हो जाते तथा सहसा चिल्ला उठते हैं कि 'भागवत सत्य मेरे पास है, मैंने उसको समग्र और संपूर्ण रूपमें पाया है।' आज इस धरतीपर कम-से-कम दो दर्जन ईसामसीह हैं, और शायद इतने ही बुद्ध भी हों। अकेले भारतमें ही तुम जितने

चाहो उतने अवतारोंको पा सकते हो, छोटी-छोटी विभूतियोंका तो कहना ही क्या है। परंतु इस प्रकार देखनेसे तो यह सब कुछ बेढंगा-सा दिखायी पड़ेगा, लेकिन यदि तुम इसके पीछे जो सत्य है उसको देखो तो आरंभमें यह जितना मूर्खतापूर्ण दिखायी देता है, वैसा नहीं रहेगा। इसके अंदर जो सत्य है वह यह है कि इस प्रकार मानवव्यक्तित्वको किसी दिव्य सत्ता, किसी दिव्य शक्तिका संस्पर्श मिलता है और वह अपनी शिक्षा और परंपराके प्रभावके कारण उसको बुद्ध, ईसामसीह या और किसी परिचित नामसे पुकारता है। अब, यह कहना बड़ा ही कठिन है कि उस व्यक्तिके संस्पर्शमें आनेवाली सत्ता या शक्ति स्वयं बुद्ध या ईसामसीह ही थे, किंतु यह भी कोई नहीं कह सकता कि इस सत्ता या शक्तिसे प्राप्त होनेवाली प्रेरणाका मूल वहां ही नहीं है जहांसे ईसामसीह या बुद्धको प्रेरणा मिलती थी। इन मानव-पात्रों-में ऐसे ही किसी उद्गमसे प्रेरणा आयी हो यह सर्वथा शक्य है। परंतु यदि वे विनीत और सरल होते तो अपनी प्रेरणाके विषयमें इतना ही कहकर संतोष मानते और इससे आगे नहीं बढ़ते, उन्होंने कहा होता कि 'अमुक महान् आत्मासे मुझे यह प्रेरणा मिली है,' किंतु इसकी जगह वे यह घोषणा कर बैठते हैं कि 'मैं ही वह महान् आत्मा हूं।' मैं एक ऐसे व्यक्तिको जानती थी जो इस बातका दावा करता था कि वह खुद ईसामसीह और बुद्ध, दोनों है। उसने कुछ प्राप्त किया था, अपनेमें और दूसरोंमें भगवान्की उपस्थितिका दर्शन किया था। परंतु उसके लिये यह अनुभव बहुत ही कड़ा था, उसमें इस सत्यको पचा सकनेकी ताकत नहीं थी। वह पागलसा हो गया और दूसरे ही दिन गलियोंमें यह कहता हुआ फिरने लगा कि उसके अंदर ईसामसीह और बुद्ध, दोनों एक हो गये हैं।

वह एक भागवत चेतना ही इन समस्त अभिव्यक्तियोंके अंदरसे अपना मार्ग तैयार करती हुई इन सब लोगोंके द्वारा यहां काम कर रही है। इस पार्थिव भूमिकापर वह आज जितनी अधिक शक्ति-शालिताके साथ काम कर रही है, ऐसा उसने पहले कभी नहीं किया

था। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें किसी रूपमें या कुछ परिमाणमें इस चेतनाका स्पर्श प्राप्त होता है, किंतु जो कुछ उन्हें प्राप्त होता है उसको वे विकृत कर डालते हैं, उसके अंदरसे वे अपनी ही कोई चीज खड़ी कर लेते हैं। दूसरे ऐसे होते हैं जो इस स्पर्शका अनुभव तो करते हैं, किंतु वे उसकी शक्तिको सहन नहीं कर सकते और उसके भारके कारण पागल हो जाते हैं। परंतु कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें इस शक्तिको ग्रहण करनेकी क्षमता और इसको सहन करनेकी ताकत होती है और ये ही लोग होंगे पूर्ण ज्ञानके पात्र, प्रभुके वरण किये हुए यंत्र और प्रतिनिधि।

यदि तुम्हें, जिस धर्ममें तुम पैदा हुए या पले हो उसका वास्तविक मूल्य आंकना हो अथवा यदि तुम्हें अपने जन्मके देश या समाजको उसके यथार्थ रूपमें देखना हो, यदि तुम्हें यह जानना हो कि जिस परिस्थितिमें तुम जा पड़े हो और जिसमें तुम घिरे हुएसे हो वह कितनी सापेक्ष वस्तु है तो तुम्हें केवल पृथिवी पर्यटन करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि जिस चीजको तुम अच्छी समझते हो वही चीज दूसरी जगह बुरी समझी जाती है, और जो कुछ एक स्थानमें बुरा समझा जाता है उसीका दूसरे स्थानमें अच्छा कहकर स्वागत किया जाता है। सभी देशोंका और सभी धर्मोंका जन्म अनेकविध परंपराओं और रूढ़ियोंके समूहमेंसे हुआ है। इन सभीमें तुम्हें संत, शूर-वीर, महान् और शक्तिशाली पुरुष मिलेंगे, साथ-ही-साथ क्षुद्र और दुष्ट पुरुष भी। तब तुम यह अनुभव करोगे कि यह कहना कितना हास्यास्पद है कि 'चूंकि मैं इस धर्ममें पला हूं इसलिये यही धर्म सच्चा है, चूंकि मैं इस देशमें पैदा हुआ हूं इसलिये यही देश सब देशोंमें उत्तम है।' इस तरहका दावा तो कोई अपने परिवारके विषयमें भी कर सकता और कह सकता है कि 'चूंकि मैं एक ऐसे परिवारका हूं जो किसी स्थानमें इतने वर्षों या शताब्दियोंतक रहा है, इसलिये उसकी परंपराओं और रूढ़ियोंसे मैं बंधा हुआ हूं, केवल ये परंपराएं और रूढ़ियां ही आदर्श हैं।'

अपनी स्वतंत्र पसंदका उपयोग करके जब कोई किन्हीं वस्तुओंको प्राप्त करता है, तभी उसके लिये उन वस्तुओंका आंतरिक मूल्य होता है और वे उसके लिये वास्तविक होती हैं, तब नहीं जब कि वे उसपर थोपी गयी हों। यदि तुम्हें इस बातकी खातरी करनी है कि तुम्हारा धर्म तुम्हारे स्वभावके अनुकूल हो तो तुम्हें उसे स्वयं पसंद करना चाहिये, यदि तुम्हें इस बातकी खातरी करनी है कि तुम्हारा देश तुम्हारे स्वभावके अनुकूल हो तो तुम्हें उसे स्वयं पसंद करना चाहिये, यदि तुम्हें इस बातकी खातरी करनी है कि तुम्हारा परिवार तुम्हारे स्वभावके अनुकूल हो तो उसको भी तुम्हें स्वयं पसंद करना चाहिये। संयोगवश जो कुछ भी मिलता जाय, उसको यदि तुम बिना किसी छान-बीनके स्वीकार करते चले जाओ तो तुम्हें इस बातकी खातरी कभी नहीं हो सकती कि आया वह वस्तु तुम्हारे लिये अच्छी है या बुरी, आया वह तुम्हारे जीवनके लिये सत्य है या नहीं।

उन सभी चीजोंसे जो प्राकृतिक परिस्थितियों अथवा विरासतमें मिली वस्तुओंके रूपमें तुम्हारे इर्द-गिर्द जमा हो गयी हैं, जो प्रकृतिकी अंध यांत्रिक प्रक्रियाद्वारा बनी और तुमपर जबरन् लाद दी गयी हैं, किनारा खींचो, अपने अंतःमें प्रवेश करो और तब वस्तुओंको शांत और अनासक्त होकर देखो। उनका मूल्य आंको और स्वतंत्र रूपसे अपनी वस्तुओंको चुनो। तभी तुम अपने आंतरिक सत्यके साथ यह कह सकोगे कि 'यह मेरा परिवार है, यह मेरा देश है, यह मेरा धर्म है।'

यदि हम अपने अंदरकी गहराईमें थोड़ी दूरतक भी उतरें तो हमें पता लगेगा कि हममेंसे हरएकके अंदर एक ऐसी चेतना है जिसका अस्तित्व अनंत कालसे चला आ रहा है और जो अपने-आपको अनेकों रूपोंमें अभिव्यक्त करती आ रही है। हममेंसे हरएकने अनेक भिन्न-भिन्न देशोंमें जन्म लिया हुआ है, हमारा भिन्न-भिन्न राष्ट्र रहा है, हमने अनेक भिन्न-भिन्न धर्मोंका अनुसरण किया है। तो फिर अपने अंतिम देश, राष्ट्र या धर्मको ही हम सर्वोत्तम क्यों मान

लें ? इन सब अनेक जन्मोंमें विभिन्न देशों और विभिन्न धर्मोंद्वारा हमने जिन अनुभवोंका संग्रह किया है वे हमारी चेतनाकी उस आंतरिक निरवच्छिन्नतामें, जो प्रत्येक जन्ममें हमारे साथ लगी हुई है, संचित रहते हैं। हमारे इन भूतकालके अनुभवोंद्वारा रचे गये अनेक व्यक्तिरूप वहांपर वर्त्तमान रहते हैं और जब हमें अपने अंदरमें रहनेवाले इन नाना प्रकारके व्यक्तिरूपोंका ज्ञान होता है, तब सत्यके किसी एक विशेष रूपको ही एकमात्र सत्य, किसी एक देशको ही अपना एकमात्र देश और किसी एक धर्मको ही एकमात्र सत्य धर्म कहना असंभव हो जाता है।

ऐसे लोग हैं जो पैदा तो किसी एक देशमें होते हैं, किंतु उनकी चेतनाके मुख्य तत्त्व स्पष्ट रूपसे किसी दूसरे देशके साथ मेल खाते हैं। युरोपमें जन्मे हुए कुछ ऐसे लोगोंसे मेरी भेंट हुई है जो अत्यंत स्पष्ट रूपसे भारतीय स्वभावके थे। दूसरे ऐसे लोगोंसे मेरी भेंट हुई है जो जन्मे तो भारतीय शरीरको लेकर, किंतु वे उतने ही स्पष्ट रूपसे युरोपियन स्वभावके थे। जापानमें मेरी कुछ ऐसे लोगोंसे भेंट हुई जिनमें कुछ तो भारतीय स्वभावके थे और कुछ युरोपियन स्वभावके। और ऐसे लोगोंमेंसे यदि कोई किसी ऐसे देशमें चला जाय अथवा किसी ऐसी सभ्यतामें प्रवेश करे जिसके साथ उसके स्वभावका मेल हो तो वहां वह यह अनुभव करता है कि वह सर्वथा अपने घरमें आ गया है।

यदि तुम्हारा लक्ष्य मुक्त होना, आत्माकी मुक्तताको प्राप्त करना है तो तुम्हें उन सब बंधनोंका त्याग करना चाहिये जो तुम्हारी सत्ताके आंतरिक सत्य नहीं हैं, बल्कि जो अवचेतनाकी आदतोंके कारण पैदा होते हैं। यदि तुम अपने-आपको पूर्ण, निरपेक्ष और अनन्य भावसे भगवान्‌के अर्पण कर देना चाहते हो तो तुम्हें इस कामको सर्वथा और संपूर्ण रूपसे करना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये कि तुम्हारी सत्ताका कोई भी टुकड़ा कहीं इधर-उधर बंधा हुआ रह जाय। शायद तुम मुझसे ऐसा कहो कि अपने बंधनोंकी इस सांकलको संपूर्ण रूपसे काट

डालना सहज नहीं है! परंतु क्या तुमनें अपने भूतकालकी ओर दृष्टिपात नहीं किया है और यह नहीं देखा है कि इन थोड़ेसे वर्षोंमें ही तुम्हारे अंदर कितने परिवर्तन हो गये हैं? तो फिर जो कुछ था या है उसके साथ तुम अपने-आपको बांधकर कैसे रख सकते हो अथवा पहलेसे ही तुम यह कैसे नियत कर सकते हो कि भविष्यमें क्या होगा और क्या नहीं?

पसंद कर लेनेकी तुम्हारी जो आंतरिक स्वतंत्रता है उसीके आधार-पर तुम्हें अपने सब संबंध नये सिरेसे स्थापित करने चाहिये। ये जो परंपराएं हैं, जिनमें तुम पले या रहते हो, वे परिस्थितिके दबावद्वारा या सर्वसाधारण मनद्वारा अथवा दूसरोंकी रुचिद्वारा तुमपर लाद दी गयी हैं। तुमने इनको एक प्रकारसे बाध्य होकर ही स्वीकृति दी है। स्वयं धर्म भी मनुष्योंपर एक लादी हुई चीज ही है। इसकी रक्षा प्रायः किसी धार्मिक भयका अथवा आध्यात्मिक या अन्य प्रकारकी विभीषिकाका भाव उत्पन्न करनेके द्वारा की जाती है। भगवान्के साथ तुम्हारे संबंधमें इस प्रकारकी जोर-जबरदस्तीको कोई स्थान नहीं। यह संबंध सर्वथा स्वतंत्र रूपसे होना चाहिये, तुम्हारे मन और प्राणकी पसंदगीके अनुसार होना चाहिये, उत्साह तथा हर्षके साथ होना चाहिये। जिस संबंध-स्थापनमें कोई कांपता हो और यह कहता हो कि 'यह मैं बाध्य होकर कर रहा हूं, क्या करूं मेरे पास कोई उपाय नहीं है' वह भी क्या कोई संबंध है, कोई एकत्व-स्थापन है? सत्य तो स्वतःसिद्ध है और इसको जगत्पर जबरन् लादनेकी आवश्यकता नहीं होती। सत्य इस बातकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करता कि मनुष्य इसको किसी तरह स्वीकार करें। कारण, यह स्वतःस्थित है। दुनियां इसके बारेमें क्या कहती है अथवा लोग इसका किस प्रकार अनुसरण करते हैं, इस बातपर सत्यका जीवन निर्भर नहीं करता। परंतु जब कोई किसी धर्मकी स्थापना करता है तो उसे बहुतसे अनुयायियोंकी आवश्यकता होती है। किसी विशिष्ट धर्मकी ताकत और महानता-का नाप लोग उसके अनुयायियोंकी संख्याको देखकर ही लगाते हैं,

यद्यपि असली महानताका चिह्न संख्या नहीं है। आध्यात्मिक सत्य-की महानताका तो संख्यासे कोई संबंध है ही नहीं। मेरा एक नवीन धर्मके अधिपतिसे, जो उस धर्मके संस्थापकका पुत्र था, परिचय था। मैंने उसको एक बार यह कहते हुए सुना कि, उस अमुक धर्मकी स्थापना-में इतने सौ वर्ष लगे हैं और उस अमुक धर्मकी स्थापनामें इतने सौ, किंतु अभी पचास वर्षके अंदर ही उनके धर्मके अनुयायी चालीस लाखसे भी अधिक हो गये हैं। सो 'आप देखती हैं', उसने कहा, 'हमारा धर्म कितना महान् है।' धर्मोंकी महानता भले ही उनके अनुयायियों-की संख्याके परिमाणमें समझी जाय, किंतु सत्यका यदि एक भी अनुयायी न हो तो भी वह सत्य ही रहेगा। औसत मनुष्य बड़ी-बड़ी बातें करनेवालोंके प्रति आकर्षित हो जाता है। जहांपर शांत भावसे सत्यकी अभिव्यक्ति हो रही हो, वह वहां नहीं जाता। जो लोग बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं उन्हें ही ढिंढोरा पीटने और विज्ञापन देनेकी आवश्यकता होती है, क्योंकि इसके बिना वे लोगोंको बहुत अधिक संख्यामें आकर्षित नहीं कर सकेंगे। जो कार्य सहज भावसे किया जाता है और जिसमें इस बातकी परवा नहीं की जाती कि लोग उसके संबंधमें क्या कहते होंगे, वह इतना अधिक विख्यात नहीं होता, इतनी आसानीसे लाखोंकी तादादमें जनसमुदायको अपनी ओर आकर्षित नहीं करता। परंतु सत्यको किसी विज्ञापनकी आवश्यकता नहीं, वह अपनेको छिपाता नहीं, पर वह अपना ढिंढोरा भी नहीं पीटता। वह अपनी अभिव्यक्तिमात्रसे संतुष्ट रहता है, परिणामोंकी ओरसे वह बेपरवा रहता है, उसको न लोगोंकी स्तुतिकी चाह होती है, न निंदासे क्षोभ। अगर संसार उसको स्वीकार करे तो उससे वह आकर्षित नहीं होता, न अस्वीकार किये जानेपर विचलित ही।

जब तुम योगमार्गको अपनाते हो तो तुम्हें इस बातके लिये तैयार रहना चाहिये कि तुम्हारे मनने जो सब इमारतें खड़ी कर रखी हैं और तुम्हारे प्राणने जो सब मचान बांध रखे हैं, उन सबके तुम टुकड़े-टुकड़े होते हुए देख सको। तुम्हें इस बातके लिये तैयार रहना चाहिये कि

तुम हवामें इकल्ले लटकते हुए रह सको तथा श्रद्धाके अतिरिक्त और किसी भी प्रकारका सहारा वहां तुम्हारे पास न हो। अपने भूतकालके व्यक्तित्व और उसकी आसक्तियोंको तुम्हें एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतनामेंसे निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा जो समस्त बंधनोंसे मुक्त हो। तुम पहले क्या थे इसका चिंतन मत करो, बल्कि अब जो कुछ होना चाहते हो केवल उसीका चिंतन करो; जिस सिद्धिको तुम प्राप्त करना चाहते हो केवल उसीमें तन्मय हो जाओ। अपने मृत भूतकालकी ओर पीठ कर लो और सीधे अपने भविष्यकी ओर दृष्टि रखो। तुम्हारा धर्म, तुम्हारा देश, तुम्हारा परिवार तो एक ही है–स्वयं भगवान्।

११

"क्या समस्त व्याधियोंका मूल कारण मनकी ही किसी अव्यवस्था-में खोजा जा सकता है? यदि हां, तो घमोरी और गला बैठना जैसे रोग मनकी किस प्रकारकी अव्यवस्थाके कारण पैदा होते हैं?"

जितनी संख्या बीमार पड़नेवालोंकी होती है उतने ही नानाविध कारण किसी एक रोगके भी हो सकते हैं, अतएव प्रत्येक व्यक्तिके रोगके कारणका हिसाब भिन्न-भिन्न होगा। यदि तुम मुझसे यह पूछो कि 'मुझे अमुक रोग क्यों हुआ?' तो मैं तुम्हारे अंदर देखकर उसका कारण बता सकती हूं, किंतु इस विषयमें कोई सर्वसाधारण नियम नहीं है।

शारीरिक व्याधियां सदा मनकी अव्यवस्था, असामंजस्य या कु-प्रवृत्तियोंके कारण ही नहीं होतीं। हो सकता है कि किसी रोगका मूल कारण मनमें हो, हो सकता है कि वह प्राणमें हो अथवा यह भी हो सकता है कि वह कम या अधिक मात्रामें निरा भौतिक ही हो, जैसे कि बाह्य संसर्गके द्वारा पैदा होनेवाले रोग। योगकी क्रियाके कारण भी रोग हो सकता है और इस प्रकार जो रोग होता है उसके भी अनेक कारण होने संभव हैं।

हम जरा योगके कारण पैदा होनेवालें रोगोंके विषयमें विचार करें, कारण हमारा सीधा और गाढ़ा संबंध इन्हींसे है। इस क्षेत्रमें यद्यपि किसी विशेष रोगके संबंधमें कोई एक ही कारण तो नहीं बताया जा सकता, फिर भी जैसे-जैसे कारणोंसे व्याधियां उभड़ती हैं उनके अनुसार हम उनके बहुतसे वर्गीकरण कर सकते हैं।

योग-साधना करनेवाले व्यक्तिके अंदर जो शक्ति अवतरित होती है और जो उसके रूपांतरके कार्यमें उसकी सहायता करती है, वह अनेक प्रकारसे कार्य करती है, और इस शक्तिकी क्रियाके परिणाम इसको ग्रहण करनेवाले व्यक्तिके स्वभावपर तथा उसके अंदर जो कार्य किया जानेवाला है उसपर निर्भर करते हैं। सबसे पहला काम जो यह शक्ति करती है वह यह है कि साधकमें जो कुछ रूपांतरित होनेके लिये तैयार है उस सबके रूपांतरमें वह एक वेग ले आती है। यदि उसका मन खुला हुआ और ग्रहणशील हो तो इस योगशक्तिके स्पर्शको पाकर वह शीघ्रतापूर्वक परिवर्तित होने और प्रगति करने लगता है। इसी प्रकार यदि उसकी प्राणमय चेतना तैयार हो तो उसका भी, यहांतक कि उसके शरीरका भी, परिवर्तन उसी वेगके साथ होने लगता है। परंतु यह रूपांतर करनेवाली शक्ति शरीरके अंदर एक विशिष्ट परिमाणमें ही कार्य करती है, क्योंकि शरीरकी ग्रहणशीलता सीमित होती है। विश्वकी अत्यंत जड़प्राकृतिक भूमिकाकी अभीतक यह अवस्था है कि उसमें ग्रहणशीलताके साथ-साथ प्रतिरोध भी बहुत अधिक मात्रामें मिला हुआ है। परंतु सत्ताके एक भागमें जो तीव्र प्रगति होती है उसका यदि दूसरे भागोंकी तदनुरूप प्रगतिद्वारा अनुसरण न हो तो प्रकृतिमें एक असामंजस्य पैदा हो जाता है, कहींपर शृंखला-भंग हो जाता है। और जहां कहीं या जब कभी यह शृंखलाभंग होता है तो वह किसी-न-किसी व्याधिका रूप धारण कर सकता है। इस शृंखलाभंगके स्वभावपर ही रोगका स्वभाव निर्भर करता है। एक प्रकारके असामंजस्यका मनपर असर पड़ता है और इससे जो विक्षोभ होता है उसके कारण उन्मादतक हो सकता है, दूसरा असामंजस्य ऐसा होता है जिसका असर शरीरपर पड़ता है और उसके फलस्वरूप ज्वर, घमोरी तथा दूसरे-दूसरे छोटे या बड़े रोग हो सकते हैं।

एक ओर तो यह होता है कि योगशक्तियोंके कार्यद्वारा सत्ताके उन भागोंमें, जो उस शक्तिको जो उनपर कार्य कर रही है ग्रहण करने और उसका प्रत्युत्तर देनेके लिये तैयार हैं, रूपान्तरकी गति बढ़ जाती

है। और इस प्रकार योग समयकी बचत करता है। सारा जगत् प्रगतिशील रूपान्तरकी प्रक्रियामें है; और यदि तुम योगसाधना करनेका निश्चय करते हो तो तुम अपने अंदर हो रही इस प्रक्रियामें एक शीघ्रता ले आते हो। जिस कामको साधारण रीतिसे करनेमें वर्षों लगेंगे वही काम योगके द्वारा चंद दिनोंमें, यहांतक कि चंद घंटोंमें ही किया जा सकता है। परंतु तुम्हारी आंतर चेतना ही इस शीघ्रगामी आवेगके अधीन होती है; कारण तुम्हारे आधारके उच्चतर भाग ही योगकी द्रुत और एकाग्रीभूत गतिका तत्परताके साथ अनुसरण करते हैं और इस गतिके कारण उन्हें जो सतत रूपसे उसके साथ एकरस होने और अनुकूलता स्थापित करनेकी आवश्यकता रहती है उसको वे अधिक सुगमताके साथ करते रहते हैं। दूसरी ओर शरीर है जो साधारणतया स्थूल है, तमोगुणी और शिथिल है। तो यदि तुम्हारे इस भागमें कोई चीज ऐसी होती है जो उपर्युक्त गतिका प्रत्युत्तर नहीं देती, यदि वहां कोई प्रतिरोध होता है, तो इसका कारण यह है कि आधारके अन्य भाग जिस तेजीके साथ चल सकते हैं उसी तेजीके साथ शरीर नहीं चल सकता। इसको समय लगता है, जिस चालसे यह साधारण जीवनमें चलता है उसी चालसे यह यौगिक जीवनमें भी चलना चाहता है। और अब घटना उसी प्रकार घटती है जैसा कि उस समय होता है जब कोई जवान आदमी लड़कोंके साथ चलता है, अर्थात् वह जब लड़कोंको अपने जैसी तेजीके साथ चलनेमें असमर्थ पाता है तो उसे समय-समयपर रुक जाना पड़ता है जिसमें कि लड़के जो पिछड़ गये हैं, उससे आ मिलें। आंतरिक सत्ताकी प्रगतिमें और स्थूल शरीरकी जड़तामें जो यह विरोध है उसके कारण बहुधा शरीरमें शृंखलाभंग हो जाता है, और फिर यह शृंखलाभंग रोगके रूपमें प्रकट होता है। यही कारण है कि योग-साधना करनेवाले आरंभमें अकसर किसी-न-किसी प्रकारकी भौतिक बेचैनी या गड़बड़ अनुभव करते हैं। ऐसा होना जरूरी नहीं है यदि ये लोग अपनी चौकसी रखें और सावधान रहें।

अथवा यदि शरीर बहुत अधिक और असाधारण रूपसे ग्रहणशील हो तो भी इन लोगोंकी रोगसे रक्षा हो जाती है। परंतु इतनी निर्मल ग्रहणशीलताका होना कि वह भौतिक अंगोंको भी आंतरिक रूपान्तर-के वेगके लगातार साथ-साथ ही चला ले जा सके, कठिन ही है; हां, यदि शरीरको भूतकालमें यौगिक प्रक्रियाके लिये तैयार किया जा चुका हो तो दूसरी बात है।

मनुष्यके साधारण जीवनमें तो इस श्रृंखलाभंगका उत्तरोत्तर बढ़ते जाना ही नियम है। मनुष्यकी मनोमय सत्ता और प्राणमय सत्ता तो विश्वव्यापी शक्तियोंकी गतियोंका भरसक अनुसरण करती हैं और जगत्के आंतरिक रूपान्तर तथा विकासकी धारा उन्हें कुछ दूरतक आगे बढ़ा देती है, किन्तु शरीर, जो जड़प्राकृतिक नियमोंसे बंधा हुआ होता है, बहुत ही सुस्त चालसे चलता है। कुछ वर्षोंके बाद, सत्तर या अस्सी, सौ या दो सौ वर्षोंके बाद – और यही शायद अधिक-से-अधिक अवधि है—यह श्रृंखलाभंग इतना अधिक बढ़ जाता है कि, बाह्य सत्ता टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। मांग और उत्तरमें अंतर होनेके कारण तथा शरीरकी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हुई असमर्थता और अप्रत्युत्तरकारिताके कारण मृत्युकी घटना आ उपस्थित होती है। योग-साधना करनेसे यह होता है कि सृष्टिके आंतरिक रूपान्तरकी जो धीमी पर अनवरत प्रक्रिया चल रही है वह अधिक तीव्र और द्रुतगामी हो जाती है, किंतु बाह्य रूपान्तरकी चाल साधारण जीवन जितनी ही रहती है। फलतः, यदि सावधानी न रखी जाय और ऐसा संरक्षण न प्राप्त कर लिया जाय जिसके द्वारा शरीरको आंतरिक प्रगतिके यथासाध्य साथ-साथ चलनेमें सहायता मिले, तो योगसाधना करनेवालेकी आंतरिक और बाह्य सत्ताके बीचका यह असामंजस्य और भी बढ़ जाना चाहता है। और यह सब कर लेनेके बाद भी शरीरका स्वभाव ही ऐसा है कि वह तुम्हें पीछेकी ओर खींचता है। यही कारण है कि बहुतोंको हमें यह कहनेके लिये मजबूर होना पड़ता है कि 'मत खींचो, जल्दबाजी

मत करो, शरीरको अनुसरण करनेके लिये तुम्हें समय देना ही पड़ेगा।' कुछ साधकोंको तो वर्षों रोक रखना और अधिक साधना करनेसे अथवा अधिक आगे बढ़नेसे मना करना आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी इस असमतोलताको बचाना असंभव हो जाता है। और तब तुममें गड़बड़ी पैदा होती ही है, जिसका स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है; यह तुम्हारे प्रतिरोधके स्वभावपर और तुमने जितनी सावधानी रखी है या जितनी अवहेलना की है उसके परिमाणपर, निर्भर करता है। यह भी एक कारण है जिससे यह होता है कि जब-जब प्रगतिकी ओर तीव्र गति होती है तब-तब उसके बाद प्रायः निरपवाद रूपसे एक स्थावरताका काल आता है, और इस कालमें, उन लोगोंको जो साव-धान नहीं कर दिये गये हैं ऐसा मालूम होता है मानो वह केवल जड़ता अवरोध और निरुत्साहिताका अभिशापित काल हो, जिसमें समस्त प्रगति रुक गयी है। और वे व्याकुल होकर सोचने लगते हैं, 'अरे! यह क्या हो रहा है? मेरा समय नष्ट तो नहीं हो रहा? कुछ भी उन्नति नहीं हो रही है।' परंतु इस विषयका सत्य यह है कि जो प्रगति हो चुकी है उसको पचा लेनेके लिये जिस बातकी आवश्यकता होती है, यह वह काल होता है, यह विश्राम इसलिये लिया जाता है कि इस कालमें शरीर अपने-आपको अधिक खोल दे और वह अधिक ग्रहणशील बन जाय तथा आंतर चेतना जिस भूमिकामें ऊपर उठ चुकी है उसके अधिक समीप पहुंच जाय। मां-बाप बहुत अधिक आगे बढ़े जा रहे थे, उन्हें रुकना पड़ेगा जिसमें कि पिछड़ा हुआ लड़का दौड़कर उनका हाथ पकड़ ले सके; ऐसा होनेके बाद ही वे फिरसे एक साथ होकर अपनी यात्रा आरंभ कर सकेंगे।

शरीरका प्रत्येक स्थान किसी-न-किसी आंतरिक गतिका प्रतीक-रूप होता है, इस प्रकार यहां सूक्ष्म आदान-प्रदानोंका एक जगत् ही है। परंतु यह एक लंबा और जटिल विषय है और हम लोग इस विषयकी ब्योरेवार चर्चामें अभी तुरंत नहीं उतर सकते। शरीरके जिस विशिष्ट स्थलको रोगने आक्रांत किया होता है वह इस बातका

सूचक होता है कि अंदरमें जो असामंजस्य हुआ है वह किस प्रकारका है। यह व्याधिके उद्गम-स्थानको दिखा देता है, रोग किस कारण-से हुआ है उसका यह एक चिह्न होता है। इसके अतिरिक्त, यह इस बातको भी प्रकट कर देता है कि जो प्रतिरोध हो रहा है, जिसके कारण समग्र आधार एक समान तेज चालसे चलनेमें असमर्थ हो गया है, वह किस स्वभावका है। यह हमको दरसा देता है कि इस-की ओषधि और इलाज क्या है। यदि भूल कहांपर है, इस बातको कोई ठीक-ठीक समझ जाय, वह इस बातका पता लगा ले कि कौनसा अंग ग्रहणशील नहीं रहा है, उस अंगको खोल दे और उसमें शक्ति और प्रकाशका प्रवेश कराये तो जो कुछ बेसुरा हो गया है उसे क्षणभर-में ही फिरसे सुरमें ले आना संभव हो जायगा और रोग तुरंत भाग जायगा।

किसी रोगका उद्गम-स्थान मनमें हो सकता है, प्राणमें हो सकता है, आधारके किसी भी भागमें हो सकता है। एक ही रोग अनेक कारणोंसे हो सकता है और विभिन्न व्यक्तियोंमें वह असामंजस्यके विभिन्न स्रोतोंमेंसे उभड़ सकता है। और यह भी हो सकता है कि रोगकेसे लक्षण दिखायी देते हों, किंतु असलमें कोई रोग हो ही नहीं और इस अवस्थामें, यदि तुम पर्याप्त रूपसे सचेतन होओ, तो तुम यह देख पाओगे कि कहींपर कोई रगड़ भर लग गयी है और इस कारण प्रगतिका प्रवाह कहींपर कुछ रुकसा गया है और यदि तुम इस रगड़को ठीक कर लो, तो तुम तुरंत चंगे हो जाओगे। ऐसे रोगका—जब वह शरीरको असर करता हुआसा दिखायी देता हो तब भी—कहीं कोई सत्य कारण नहीं होता। यह बहुत कुछ कल्पित होता है और जड़-प्रकृतिपर इसका कब्जा वैसा नहीं होता जैसा कि किसी सच्चे रोगका होता है।

संक्षेपमें यों समझो कि रोगके कारण भांति-भांतिके और पेचीदे होते हैं; प्रत्येक रोगके लाखों कारण हो सकते हैं, किंतु इससे सदा ही यह पता चल जाता है कि आधारका दुर्बल भाग कौनसा है।

रोग किसी भी कारणसे क्यों न हुआ हो और वह चाहे स्थूल-भौतिक हो या मानसिक, बाह्य हो या आंतरिक, उसे भौतिक शरीरपर असर करनेसे पहले सत्ताके उस स्तरमेंसे प्रवेश करना पड़ता है जो शरीरके चारों ओर लिपटा हुआ है तथा उसकी रक्षा करता रहता है। इस सूक्ष्मतर स्तरके भिन्न-भिन्न धर्मोंमें भिन्न-भिन्न नाम हैं,–कोई उसे आकाशशरीर कहता है तो कोई नाड़ी-कवच। यह एक सूक्ष्म शरीर है, तो भी यह बहुत कुछ दृष्टिगम्य है। किसी अत्यंत उष्ण और उबलते हुए द्रव्यके चारों ओर जो घने कंपन दिखायी देते हैं वैसा ही यह घना होता है, यह भौतिक शरीरमेंसे ही पैदा होता है और फिर उससे सटा हुआ रहकर उसको चारों ओरसे ढांके रहता है। बाह्य जगत्‌के साथ समस्त व्यवहार इसीके माध्यमद्वारा होता है और इस कवच-शरीरपर पहले आक्रमण करके इसका भेदन करनेपर ही कोई स्थूल शरीरतक असर पहुंचा सकता है। यदि यह कवच पूर्ण रूपसे बलवान् और अखंड हो तो बुरे-से-बुरे रोगोंसे आक्रांत स्थानोंमें भी, यहांतक कि जहां प्लेग और हैजा हो ऐसे स्थानोंमें भी जाकर तुम सर्वथा रोग-मुक्त रह सकते हो। जबतक यह समग्र और पूर्ण रहता है, इसकी बनावट जबतक अखंड रहती है, इसके तत्त्व जबतक पूर्ण संतुलनमें रहते हैं, तबतक यह रोगके समस्त संभावित आक्रमणोंसे हमारी संपूर्ण रक्षा करता रहता है। एक ओर तो यह कवच-शरीर जड़ प्रकृतिके, यों कहना चाहिये कि जड़-प्राकृतिक अवस्थाओंके न कि स्थूलभौतिक द्रव्यके, आधारपर बना हुआ है, दूसरी ओरसे इसके निर्माण-तत्त्व हैं हमारी मनस्तात्त्विक अवस्थाओंके कंपन। यह दूसरा पार्श्व शांति, समचित्तता और विश्वास, स्वस्थतामें श्रद्धा, क्षोभरहित विश्रांति-की अवस्था और प्रफुल्लता तथा तेजोमय आनंद–इन तत्त्वोंद्वारा बना हुआ होता है, और ये ही तत्त्व इस कवच-शरीरको शक्ति और जीवन प्रदान करते हैं। यह कवच-शरीर अत्यंत संवेदनशील माध्यम है और इसमें प्रतिक्रियाएं सहजमें और तुरंत होने लगती हैं; समस्त सुझावोंको यह तुरंत अंगीकार कर लेता है और इन सुझावोंके कारण

इसकी अवस्थामें द्रुत परिवर्तन हो सकते हैं, इसका ढांचातक बदल जा सकता है। किसी प्रकारका बुरा सुझाव इसपर बुरी तरह असर करता है, उसी प्रकार यदि कोई अच्छा सुझाव हो तो वह उसी बलके साथ इसपर अच्छाईकी दिशामें काम करता है। उदासी और निरुत्साहका इसपर बहुत बुरा असर होता है, वे इसमें जगह-जगह छेद कर देते हैं, इसको दुर्बल और प्रतिरोधशक्तिविहीन बना देते हैं, फलतः विरोधी आक्रमणोंके लिये एक सहज मार्ग खुल जाता है।

कवच-शरीरमें होनेवाली इस क्रियाको समझ लेनेपर अंशतः यह बात भी हमारी समझमें आ जाती है कि बहुधा हम क्यों एक दूसरेके प्रति अनायास और अकारण ही आकर्षण और हटाव अनुभव करते हैं। आकर्षण और हटाव-रूपी ये प्रतिक्रियाएं सबसे पहले इस संरक्षणकारी कवचमें ही होती हैं। जो लोग हमारे इस नाड़ी-कवचकी शक्तिको बढ़ानेवाले, इसमें बल पहुंचानेवाले होते हैं उनके प्रति हम सहजमें ही आकर्षित हो जाते हैं, और जो इसको क्षुब्ध करते या इसे चोट पहुंचाते हैं उनसे हम दूर हटते हैं। जो कुछ इसको बढ़ावा देता है, इसको आराम और चैन पहुंचाता है, जो कुछ इसके अंदर प्रसन्नता और हर्षके भावकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है उसके प्रति हमारे अंदर तुरंत एक आकर्षण हो जाता है, और जब किसीका असर विपरीत दिशामें होता है तब यह हमारी रक्षाके लिये उस व्यक्तिसे दूर ही रहनेकी प्रतिक्रिया पैदा करता है। जब दो आदमी परस्पर मिलते हैं तब यह क्रिया बहुधा उन दोनोंमें ही एक दूसरेके प्रति होती है। अवश्य ही परस्पर संबंध या आकर्षण अनुभव करनेका यह एकमात्र कारण नहीं है, किंतु यह भी एक कारण, बहुत बार होनेवाला एक कारण है।

यदि हमारी समग्र सत्ता ही विश्वकी आंतरिक प्रगतिके साथ-साथ कदम मिलाती हुई, अपने प्रगतिशील रूपांतरके कार्यमें एक संग आगे बढ़ सके तो रोग होगा ही नहीं, मृत्यु होगी ही नहीं। परंतु यह बात सोलहों आने पूरी और समग्र सत्तामें होनी चाहिये, उच्चतम भूमिका-ओंके रोगोंसे—जो अधिक नमनशील होते हैं और जो रूपांतरकारिणी

शक्तियोंके प्रति आवश्यक अनुपातमें अधीन हो जाते हैं–लेकर अत्यंत जड़-प्राकृतिक भूमिका–जो स्वभावसे ही कठोर है, निश्चल है, किसी भी द्रुत रूपांतरकारी परिवर्तनका विरोध करती है–के अंगोंतकमें, समग्र सत्तामें एक सरीखी प्रगति होनी चाहिये, तभी ऐसा होगा।

शरीरके कुछ भाग यौगिक शक्तियोंकी क्रियाका अन्य भागोंकी अपेक्षा अधिक तीव्र प्रतिरोध करते हैं, और इन भागोंमें जो रोग होता है उसे आराम करना अधिक कठिन होता है। ये आधारकी अत्यंत जड़प्राकृतिक भूमिकावाले अंग होते हैं और इनमें होनेवाली व्याधियां भी वैसी ही होती हैं–जैसे कि चर्मरोग या दंतरोग। श्रीअरविन्दने एक बार एक योगीकी चर्चा की थी। ये महात्मा नर्मदाके तीरपर लगभग एक शताब्दिसे रहते थे और इतने वृद्ध होनेपर भी अत्यंत हट्टे-कट्टे और बहुत ही तन्दुरुस्त थे। एक बार उनके किसी शिष्यने दांतके दर्दके लिये उन्हें कोई ओषधि दी, योगीने औषध लेनेसे इनकार करते हुए कहा कि उन्हें वह दांत तो प्रायः दो सौ वर्षोंसे कष्ट देता आया है। इन महात्माने अपनी स्थूल प्रकृतिपर इतना वशित्व प्राप्त कर लिया था कि वे प्रायः २०० वर्षोंतक जी सके, किंतु इतने दीर्घकालमें भी वे इस दांतके दर्दपर विजय प्राप्त नहीं कर सके थे।

कुछ रोग जो अत्यंत खतरनाक गिने जाते हैं उन्हें आराम करना बहुत सहज होता है और कुछ जो अतिनगण्य गिने जाते हैं, वे बहुत ही हठपूर्वक प्रतिरोध कर सकते हैं।

रोगके खतरेका नव-दसांश भाग भयसे पैदा होता है। भयके कारण किसी रोगके लक्षण प्रकट हो सकते हैं, बल्कि इसकी वजहसे स्वयं रोगतक भी हो जा सकता है। हालकी ही बात है, एक सज्जन जो इस आश्रममें बराबर आया जाया करते हैं, उनकी धर्मपत्नीने, जो स्वयं योग नहीं करतीं, सुना कि उनका ग्वाला जिस घरमें रहता है उस घरमें किसीको हैजा हुआ है। वे भयग्रस्त हो गयीं और दूसरे ही क्षण उनके अंदर हैजेके लक्षण दिखायी देने लगे। उनको तुरत ही आराम किया जा सका था, कारण उनके अंदर रोगकेसे जो

लक्षण दिखायी दिये उन्हें वास्तविक रोगमें परिणत नहीं होने दिया गया।

योगका दबाव पड़नेके परिणामस्वरूप शरीरमें कुछ ऐसी क्रियाएं होती हैं जिनसे कभी-कभी बिलकुल निराधार भय खड़े हो जाते हैं, और इनसे हानि हो सकती है, यदि इस भयका संकल्पपूर्वक त्याग नहीं कर दिया जाय। उदाहरणार्थ, सिरमें एक दबाव होता है (और इसी विषयको लेकर यह चर्चा शुरू हुई है) और जो बहुतोंको अनुभूत होता है–विशेषतः साधनाकी प्राथमिक अवस्थाओंमें–जब कि कोई चीज, जो अभी बंद है, खुल जानेको होती है। यह एक ऐसी तकलीफ है जो कुछ नहीं कर सकती और सहजमें दूर की जा सकती है, यदि तुम्हें यह मालूम हो कि जिन शक्तियोंके प्रति तुम उद्घाटित होते जा रहे हो, वे जब अपने कार्यको सफल करनेके लिये और रूपांतरकी क्रियामें वेग ले आनेके लिये शरीरपर जोरसे कार्य करती हैं तब उनके दबावसे इस तरहकी क्रिया होती है। यदि इसको शांत भावसे लिया जाय तो यह एक ऐसे संवेदनमें परिवर्तित हो जा सकती है जो असुखकर न हो। परंतु यदि तुम डर जाओ तो अवश्य ही भयानक सिरदर्द तुम्हें आ घेरेगा, ज्वरतक हो जा सकता है। इस तकलीफका कारण है शरीरमें किसी प्रकारका प्रतिरोध; और यदि तुम इस प्रतिरोधको दूर करना जान जाओ तो तुम्हारी यह तकलीफ तुरत दूर हो जायगी। परंतु जहां तुम डरे कि यह तकलीफ बहुत अधिक बढ़ जा सकती है। तकलीफके इन अनुभवोंका स्वभाव चाहे जैसा भी क्यों न हो, भयको तुम्हें कभी भी स्थान नहीं देना चाहिये। तुममें यह अटल विश्वास होना चाहिये कि जो कुछ हो रहा है वह वही है जो होनेको था। एक बार यदि तुमने इस मार्गको चुन लिया है तो फिर तुम्हें अपने इस चुनावके समस्त परिणामोंको भी बहादुरीके साथ स्वीकार करना चाहिये। परंतु यदि तुम पहले तो कुछ चुन लो और फिर पीछे हटो, और फिर चुनो और फिर दुबारा पीछे हटो, सदा डगमगाते रहो, सदा संदेह करते रहो, सदा डरते रहो तो तुम अपने

आधारमें असामंजस्यकी सृष्टि कर लेते हो, और यह असामंजस्य केवल तुम्हारी प्रगतिको ही नहीं रोकता, बल्कि यह तुम्हारे मन और प्राणमें नाना प्रकारके क्षोभ पैदा कर सकता है और तुम्हारे शरीरमें तकलीफ और रोग।

१२

"क्या योगी चेतनाकी किसी ऐसी अवस्थाको प्राप्त हो सकता है जिसमें पहुंचकर वह सब कुछ जान सके, समस्त प्रश्नोंका, यहांतक कि सायंसकी कठिन समस्याओंका, जैसे कि 'सापेक्षतावाद' की परिकल्पनाके विषयमें भी, उत्तर दे सके ?"

परिकल्पनात्मक रूपसे और सिद्धांततः यह ठीक है कि योगीके लिये सब कुछ जान लेना असंभव नहीं है, पर सब कुछ इसपर निर्भर करता है कि वह योगी कौन है।

ज्ञान-ज्ञानमें भेद होता है। मन जिस तरीकेसे जानकारी लाभ करता है, योगीका ज्ञान वैसा नहीं होता। योगी यदि सब कुछ जानता है तो उसका कारण यह नहीं कि वह यह सब इसलिये जान पाता है चूंकि हरेक संभावित खबरके अंदर उसका प्रवेश होता है, या चूंकि उसके मनके अंदर विश्वके समस्त तथ्य भरे पड़े होते हैं, या चूंकि उसकी चेतना किसी अद्‌भुत विश्वकोषके जैसी होती है। वह जान पाता है वस्तुओं, व्यक्तियों और शक्तियोंके साथ उसकी जो धारणात्मक रूपसे या सक्रिय रूपसे तादात्म्य हो जानेकी क्षमता होती है उसके कारण। अथवा वह इसलिये जान पाता है कि वह चेतनाकी एक ऐसी भूमिकामें रहता है या एक ऐसी चेतनाके संस्पर्शमें होता है जिसमें सत्य और ज्ञान स्थित हैं।

यदि तुम सत्य चेतनामें होओ तो तुम्हें मिलनेवाला ज्ञान भी सत्यका ज्ञान ही होगा। इस अवस्थामें भी ज्ञेयके साथ अपनेको एक

करके ही तुम उसके संबंधमें प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। यदि तुम्हारे सामने कोई समस्या उपस्थित की जाय, यदि तुमसे यह पूछा जाय कि अमुक अवसरविशेषपर क्या करना चाहिये, जो तुम उस विषयपर पर्याप्त ध्यान देकर और एकाग्र होकर उस विषयके आवश्यक ज्ञान और सत्य उत्तरको अनायास प्राप्त कर सकते हो। इस ज्ञानको तुम किसी परिकल्पनाका यत्नपूर्वक उपयोग करके अथवा उस परिकल्पनाको मनोमय प्रक्रियाद्वारा कार्यान्वित करके प्राप्त नहीं करते। इन पद्धतियोंकी आवश्यकता तो जड़वैज्ञानिक मनको ही अपने निर्णयोंतक पहुंचनेके लिये होती है। परंतु योगीका ज्ञान तो सीधा और तत्क्षण होता है; वह निगमनात्मक नहीं होता। किसी इंजिनियरको यदि एक मेहराब बनानी हो तो वह उसके ठीक-ठीक स्थानको, उसकी गोलाईकी रेखा और उसके पोले स्थानके कदको नाप-जोखकर ठीक करता है, इस विषयका निर्णय वह अपनी भौतिक विद्याकी सामग्रीको मिला-जुलाकर करता है। परंतु योगीको इस तरहकी किसी चीजकी जरूरत नहीं होती; वह तो उस वस्तुकी तरफ दृष्टि डालता है, अपनी दिव्य दृष्टिसे उसके स्वरूपको ग्रहण करता है और वह देख पाता है कि इस चीजको किस प्रकारसे करना होगा, केवल उसी प्रकारसे करना होगा और किसी दूसरे प्रकारसे नहीं; और उसका वह देखना ही उसका ज्ञान होता है।

यद्यपि सामान्यतया तथा किसी अर्थमें यह ठीक है कि योगी अपनी दृष्टि और चेतनाके क्षेत्रमेंसे सभी बातोंको जान सकता और सभी प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है, फिर भी इस बातका यह मतलब नहीं है कि कोई भी प्रश्न ऐसा नहीं होता कि जिसका उत्तर देना योगीके लिये कठिन न हो, फिर ऐसे प्रश्न भी हो सकते हैं जिनका उत्तर देना वह चाहे ही नहीं। जिस योगीको प्रत्यक्ष ज्ञान, वस्तुओंके सच्चे सत्यका ज्ञान प्राप्त है वह उन प्रश्नोंका, जो सर्वांशतः मानव-मनकी ही रचनानोंकी कोटिके होते हैं, उत्तर देनेकी परवा नहीं करेगा, शायद उसे ऐसे प्रश्नोंका उत्तर देनेमें कठिनाई भी हो। यह हो सकता है

कि वह केवल वस्तुओंके मिथ्या या बाह्य स्वरूपसे संबंध रखनेवाली तुम्हारी समस्याओं और कठिनाइयोंका हल करना न चाहे या न कर सके। उसके ज्ञानकी क्रिया मनमें नहीं होती और यदि तुम उसके सामने उपर्युक्त प्रकारका कोई फूहड़ मानसिक प्रश्न करो तो शायद वह उसका उत्तर ही न दे। यह जो आम धारणा है कि जिस प्रकार ऊंचे दर्जेके किसी स्कूल मास्टरसे प्रश्न किया जाता है उसी प्रकार किसी योगीसे भी तुम जो कोई भी अज्ञानयुक्त प्रश्न कर सकते हो अथवा भूत, वर्तमान और भविष्य कालके किसी भी समाचारको पूछ सकते हो और वह इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये बाध्य है, यह एक मूर्खतापूर्ण विचार है। यह बात उतनी ही बेढंगी है जितनी कि किसी आध्यात्मिक पुरुषसे यह आशा करना कि वह किन्हीं ऐसे असाधारण पराक्रम या चमत्कारको दिखावे जिनसे साधारण असंस्कृत और बहिर्मुख मनको संतुष्टि मिलती और वह आश्चर्यचकित रह जाता है।

इसके अतिरिक्त 'योगी' शब्द बहुत ही अस्पष्ट और व्यापक है। योगी बहुत तरहके होते हैं, आध्यात्मिक अथवा गुह्य तत्त्वोंकी साधनाकी अनेक धाराएं और दिशाएं हैं, और फिर इन साधनाओंद्वारा प्राप्त होनेवाली चढ़ती-उतरती अनेक प्रकारकी सिद्धियां हैं। कुछ योगी ऐसे हैं जिनकी शक्तियां मानसिक भूमिकासे ऊपरकी नहीं होतीं, दूसरे ऐसे हैं जो इस भूमिकासे ऊपर उठे हैं। सब कुछ उनकी साधनाकी भूमिका या उसके स्वभावपर, जिस ऊंचाईतक वे पहुंचे हैं उसपर तथा जिस चेतनाका स्पर्श उन्हें मिला है अथवा जिस चेतनामें उन्होंने प्रवेश किया है उसपर, निर्भर करता है।

"क्या यह ठीक नहीं है कि जड़वैज्ञानिक भी कभी-कभी मनोमय भूमिकाके परे जाते हैं ? ऐसा कहा जाता है कि आइन्स्टाइनने सापेक्षतावादकी परिकल्पनाका आविष्कार किसी तर्ककी प्रक्रियाके द्वारा नहीं किया था, बल्कि यह परिकल्पना उन्हें एक सद्यःप्रेरणाके रूपमें प्राप्त हुई थी। क्या इस प्रेरणाका विज्ञानसे कोई संबंध था ?"

जिस किसी जड़वैज्ञानिकको इस तरहकी कोई प्रेरणा होती है जिसके फलस्वरूप वह किसी नवीन सत्यका दर्शन करता है, वह उसको अंतर्ज्ञान देनेवाली मनकी भूमिकासे होती है। इस तरहका ज्ञान तब मिलता है जब कि उसको उस उच्चतर मनोमय भूमिकाके साथ, जो कि और भी अधिक ऊपरकी ज्योतिद्वारा प्रकाशमान होती है, सीधा संबंध हो जाता है और वहांसे उसको प्रेरणा मिलने लगती है। परंतु इस सबसे विज्ञानकी क्रियाका कोई संबंध नहीं है और यह उच्चतर मनोमय भूमिका विज्ञानमय भूमिकासे कोसों दूर है। औसत अवस्थासे ऊपर उठते ही मनुष्य यह विश्वास करने लग जाते हैं कि वे पूर्ण भागवत क्षेत्रोंमें पहुंच गये। साधारण मानव-मन और विज्ञानके बीच अनेक अवस्थाएं, अनेक स्तर और अनेक भूमिकाएं हैं। यदि कोई साधारण कोटिका आदमी इन मध्यवर्त्ती भूमिकाओंमेंसे किसी एकके भी सीधे संपर्कमें आ जाय तो वह चौंधिया जायगा और उसकी आंखें वहांके प्रकाशमें अंधी हो जायंगी, वह वहांकी विशालताके भानके बोझके नीचे कुचलसा जायगा अथवा अपने संतुलनको गंवा देगा; और फिर भी वह अभीतक विज्ञान-लोकसे दूर ही होगा।

योगी सभी बातोंको जान सकता और सभी प्रश्नोंका उत्तर दे सकता है इस साधारण धारणाके पीछे जो असली तथ्य है वह यह है कि मनके अंदर एक ऐसा स्तर है जहां समस्त वस्तुओंकी स्मृति संगृहीत हुई रहती है और वह सदा विद्यमान रहती है। पार्थिव जीवनमें होने-वाली समस्त मानसिक क्रियाएं इस स्तरमें स्मृतिगत और अंकित की जाती हैं। जिन लोगोंमें वहांतक पहुंचनेकी क्षमता है और जो वहांतक जानेका कष्ट उठाना चाहते हैं वे वहांके बही-खातोंमें दर्ज किसी भी चीजको बांच और जान सकते हैं। परंतु उस क्षेत्रको विज्ञानमय भूमिका समझ लेनेकी भूल नहीं करनी चाहिये। और फिर भी, वहां-तक पहुंचनेके लिये भी, तुम्हें अपने स्थूल या भौतिक मनको निश्चल-नीरव कर लेना होगा, तुम्हें इस योग्य बन जाना होगा कि तुम अपने समस्त संवेदनोंको एक किनारे रख सको और अपनी साधारण मनोमय

क्रियाओंको, फिर चाहे वे कैसी ही क्यों न हों, बंद कर सको; तुम्हें अपने प्राणके दायरेसे बाहर निकल आना होगा; तुम्हें अपने शरीरकी गुलामीसे मुक्त हो जाना होगा। ऐसा होनेपर ही तुम उस क्षेत्रमें प्रवेश कर सकोगे तथा वहां जो कुछ है उसको देख सकोगे। पर यदि तुम इस प्रयासको करनेके लिये पर्याप्त दिलचस्पी रखते हो, तो तुम वहां पहुंच सकते हो और पृथिवीकी स्मृतिमें जो कुछ लिखा हुआ है उसे बांच सकते हो।

इस प्रकार यदि तुम अपने अंदरकी गहराईमें उतरो और वहांकी निश्चल-नीरवतामें पहुंच जाओ, तो तुम चेतनाकी एक ऐसी भूमिकाको प्राप्त कर ले सकते हो जहांपर तुम्हारे लिये यह असंभव नहीं है कि तुम अपने सभी प्रश्नोंके उत्तरोंको पा लो। और यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो विज्ञान-लोकके पूर्ण सत्यके प्रति सचेतन रूपसे उद्घाटित हो, उसके साथ उसका सतत संपर्क हो, तो वह निश्चय ही ऐसे किसी भी सवालका उत्तर दे सकता है जो विज्ञानलोकके प्रकाशसे उत्तर दिये जानेके लायक हो। ऐसे व्यक्तिसे किया जानेवाला प्रश्न अवश्य ही इस तरहका होना चाहिये कि वह वस्तुओंके पीछे जो सत्य और सद्वस्तु है उससे संबंध रखता हो। और बहुतसे प्रश्न विवादग्रस्त समस्याएं ऐसी होती हैं जिनको मन मकड़ीके जालेकी तरह बुनकर तैयार करता है और वे वस्तुओंके मिथ्या पार्श्वसे ही संबंध रखती हैं। उनका वास्तविक ज्ञानसे संबंध नहीं होता, वे तो ज्ञानकी विकृतिमात्र होती हैं। उनका सब तानाबाना ही अज्ञानका होता है। अवश्य ही मनके अज्ञानद्वारा उपस्थित की हुई समस्याओंका उत्तर भी विज्ञानमय ज्ञान दे सकता है, पर यह उत्तर उसका अपना उत्तर होगा और बहुत संभव है कि मनकी भूमिकासे प्रश्न करनेवाले व्यक्तियोंको यह जरा भी संतुष्ट न कर सके अथवा यह भी हो सकता है कि वह उनकी समझमें ही न आये। मनकी तरह ही विज्ञान भी काम करे ऐसी आशा तुम्हें नहीं करनी चाहिये और न तुम्हारी यह मांग ही होनी चाहिये कि सत्य चेतनामें रहनेवाले ज्ञानको इस योग्य होना चाहिये कि उसे अज्ञानमें रहनेवाले अर्द्ध-

ज्ञानके साथ टांका जा सके। मनकी आयोजना एक बात है, लेकिन विज्ञान बिलकुल दूसरी बात है और यदि वह मानसिक आयोजनाकी मांगके अनुसार अपने-आपको बना ले तो उसकी विज्ञानमयता ही जाती रहे। ये दोनों इतने अलग हैं कि ये एक ही मापसे नापे जाने लायक नहीं हैं और ये दोनों एक साथ नहीं रखे जा सकते।

"चेतना जब विज्ञानके आनंदको प्राप्त हो जाती है तब क्या वह मनके व्यापारोंमें दिलचस्पी लेना बंद कर देती है?"

मानसिक व्यापारोंमें विज्ञान उसी प्रकारसे दिलचस्पी नहीं लेता जैसा कि मन लेता है। विश्वकी समस्त गतियोंमें ही उसकी अपने ढंगकी दिलचस्पी होती है, किंतु यह एक भिन्न दृष्टिबिंदुसे होती है और एक भिन्न चक्षुद्वारा होती है। उसकी दृष्टिके सम्मुख जगत्का रूप बिलकुल दूसरे ही प्रकारका दीखने लगता है। यहां-पर दृष्टिकोण पलट जाता है और इस भूमिकापरसे सभी चीजें, जैसी कि मनसे नजर आया करती हैं उससे दूसरे ही प्रकारकी, बल्कि बहुधा उससे बिलकुल विपरीततक, नजर आती हैं। यहांपर वस्तुओंका अर्थ ही बदल जाता है; उनका पहलू, उनकी हलचल और प्रक्रिया, उनके विषयका सभी कुछ दूसरी ही आंखोंसे देखा जाता है। यहांपर सब कुछके पीछे विज्ञान रहता है। मनकी गतियोंमें, उसी प्रकार प्राण और स्थूलभौतिक गतियोंमें भी, इतना ही नहीं बल्कि विश्वकी समस्त लीलामें विज्ञान बहुत गहरी दिलचस्पी रखता है, किंतु उसकी वह दिलचस्पी एक दूसरे ही प्रकार-की होती है। मन और विज्ञानकी दिलचस्पियोंके भेदको कठपुतलीके खेलके दृष्टांतसे स्पष्ट किया जा सकता है। कठपुतलीके खेलमें एक तो उसकी दिलचस्पी होती है जो कठपुतलियोंकी बागडोरको अपने हाथमें रखता है और यह जानता होता है कि इन कठपुतलियों-को क्या करना है, उस इच्छाको जानता होता है जो उन्हें घुमाती

है और यह भी जानता होता है कि केवल उस इच्छाके अनुसार ही वे हिल-डुल सकती हैं, और दूसरी उसकी दिलचस्पी होती है जो इस खेलका दर्शक होता है, पर जो केवल क्षण-क्षणपर बदलते जानेवाली घटनाओंको ही देखता है, अन्य कुछ भी नहीं जानता। जो व्यक्ति खेलका दर्शक होता है और उसके रहस्योंसे अनजान होता है, उसकी खेलमें घटनेवाली घटनाओंके प्रति जो दिलचस्पी होती है वह अधिक तीव्र, उत्सुकतापूर्ण और आवेशमय होती है और वह उसकी अभीतक अज्ञात नाटकीय घटनाओंको उत्तेजनापूर्ण कौतूहलके साथ देखता है; किंतु दूसरा, जिसके हाथमें खेलकी बागडोर है और जो तमाशेका संचालक है, स्थिर और शांत रहता है। दिलचस्पीकी एक ऐसी प्रखरता या प्रगाढ़ता होती है जो अज्ञानसे ही आती है और वह भ्रमके साथ जुड़ी हुई होती है और जब तुम अज्ञानसे बाहर निकल आते हो तब वह भी जाती रहती है। वस्तुओंके प्रति मानव-प्राणियोंकी जो दिलचस्पी होती है उसकी स्थापना भ्रमपर होती है और यदि भ्रम हटा दिया जाय तो फिर इस लीलामें उनको कोई दिलचस्पी रहेगी ही नहीं, उन्हें वह रूखी और नीरस लगेगी। यही कारण है कि यह सब अज्ञान और भ्रम इतने दिनोंतक टिका रह सका है; यह इसलिये है कि मनुष्य इसे पसंद करते हैं और इससे तथा इसमें जो उन्हें एक विशिष्ट रस मिलता है उससे वे चिपके रहते हैं।

"जो कोई अपनी शारीरिक अवस्थाको परिवर्तित करना, किसी रोगका निवारण करना अथवा किसी शारीरिक अपूर्णताको दूर करना चाहता हो उसे क्या करना चाहिये? क्या उसे अपने प्राप्य लक्ष्यके प्रति तन्मय हो जाना चाहिये और अपने कार्यकी पूर्तिके लिये अपनी संकल्प-शक्तिका प्रयोग करना चाहिये अथवा उसे केवल इस दृढ़ विश्वासमें निवास करना चाहिये कि यह सब हो ही जायगा या यह भरोसा रखना चाहिये कि भागवत शक्ति अपने समयपर और अपने तरीकेसे वांछित परिणामको ले ही आयेंगी?"

ये सभी उस एक ही कामको करनेके अनेक उपाय हैं और अवस्था-विशेषके अनुसार प्रत्येक ही फलदायक हो सकता है। तुम किस पद्धतिका उपयोग कर अधिक-से-अधिक सफलता प्राप्त कर सकोगे यह बात इसपर निर्भर करती है कि तुमने कौनसी चेतनाको विकसित किया है अथवा तुम जिन शक्तियोंको कार्यक्षेत्रमें उतार सकते हो वे कौनसी हैं। तुम यह कर सकते हो कि तुम उस चेतनामें रहने लगो जहां रोग दूर हो चुका है या उसका पूर्ण परिवर्तन हो चुका है और इस प्रकार तुम्हारा जो आंतरिक गठन बन जायगा उसकी शक्तिके द्वारा तुम यह कर सकोगे कि धीरे-धीरे तुम अपने बाह्य परिवर्तनको भी सिद्ध कर लो। अथवा यदि उस शक्तिको तुम जानते हो और उसका तुम्हें दर्शन हो चुका है जो ऐसे कार्योंको सिद्ध कर सकती है, और यदि तुम्हें उस शक्तिका उपयोग करनेकी कुशलता प्राप्त है तो तुम उसका आवाहन कर सकते हो और जिन अंगोंमें उसकी क्रियाकी आवश्यकता हो वहां उसका प्रयोग कर सकते हो और वह उस परिवर्तनको कार्यान्वित कर देगी। अथवा, तुम यह कर सकते हो कि तुम अपनी कठिनाईको भगवान्‌के सामने, भागवत शक्तिमें विश्वासपूर्ण भरोसा रखते हुए, उपस्थित कर दो और उनसे पूछो कि तुम्हारे रोगका इलाज क्या है।

परंतु तुम जो कुछ भी करो, तुम जिस किसी प्रक्रियाका उपयोग करो, फिर चाहे उस प्रक्रियाका उपयोग करनेमें तुम्हें बड़ा भारी कौशल या सामर्थ्य ही क्यों न प्राप्त हो गया हो, तो भी उसका जो फल होगा उसको तो तुम्हें भगवान्‌के हाथोंमें ही छोड़ देना चाहिये। सदा प्रयत्न करते रहना तुम्हारा काम है, किंतु उस प्रयत्नके फलको देना या न देना, यह भगवान्‌का काम है। अब यहांपर आकर तुम्हारी अपनी ताकत बंद हो जाती है और यदि कोई परिणाम होता है तो उसको तुम्हारी अपनी शक्ति नहीं बल्कि भागवत शक्ति लाती है। तुम्हें क्या इस बातकी शंका है कि भगवान्‌से इन सब चीजोंको मांगना उचित है या नहीं? परंतु यदि किसी नैतिक

दोषको दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करनेमें कोई बुराई नहीं है तो फिर किसी भौतिक अशुद्धि या अपूर्णताको दूर करनेके लिये भगवान्की ओर मुंह करना उससे कुछ अधिक बुरा नहीं है। परंतु तुम जो कुछ भी मांगो, तुम्हारा जो कुछ भी प्रयास हो, उस समय भी जब कि तुम अपनी भरपूर चेष्टा कर रहे होओ, फिर चाहे इस चेष्टामें तुम ज्ञानका प्रयोग करते होओ या शक्तिका, तुम्हें सदा यह अनुभव करना चाहिये कि परिणाम भगवान्की कृपापर निर्भर करता है। एक बार यदि तुमने इस योगमार्गको स्वीकार कर लिया तो फिर तुम्हारे समस्त कार्य पूर्ण आत्म-समर्पणके भावसे होने चाहिये। तुम्हारा भाव यह होना चाहिये कि—'मैं अभीप्सा करता हूं, मैं अपनी अपूर्णताओंको दूर करना चाहता हूं, मुझसे जो कुछ हो सकता है वह मैं करता हूं, किंतु इसका जो फल होगा उसके लिये मैं अपने-आपको संपूर्ण रूपसे भगवान्के हाथोंमें सौंपता हूं।'

"यदि कोई ऐसा कहे कि 'मुझे परिणामके विषयमें निश्चय है, मैं इस बातको जानता हूं कि जो मैं चाहता हूं उसे भगवान् मुझे देंगे' तो क्या इससे कोई सहायता मिलती है?"

इस बातको तुम इस रूपमें ले सकते हो। तुम्हारी श्रद्धाकी तीव्रता या अटलताका ही यह अर्थ हो सकता है कि भगवान्ने यह निर्धारित कर रखा है कि तुम्हारी श्रद्धा जिसका निर्देश करती है वह अवश्य पूर्ण हो। अचल श्रद्धा भागवत संकल्पके विद्यमान होनेका चिह्न होती है, जो कुछ होनेवाला है उसकी निर्दशिका होती है।

"जिस समय कोई निश्चल-नीरव ध्यानावस्थामें होता है उस समय उसके अंदर कौनसी शक्तियां काम कर रही होती हैं?"

यह बात ध्यान करनेवाले व्यक्तिपर निर्भर करती है।

"परंतु क्या निश्चल-नीरव ध्यानकी अवस्थामें साधक अपने-आपको पूर्ण रूपसे शून्य नहीं कर देता ? तब फिर कोई भी बात उसपर कैसे निर्भर कर सकती है ?"

यदि तुम अपने-आपको संपूर्ण रूपसे शून्य भी कर डालो तो भी इससे तुम्हारी अभीप्सामें कोई परिवर्तन नहीं होता उसका कार्य-क्षेत्र नहीं बदलता। किसीकी अभीप्सा मानसिक भूमिकाओंपर अथवा प्राणके क्षेत्रोंमें कार्य करती होती है; किसीकी अभीप्सा आध्यात्मिक होती है। जिस जातिकी तुम्हारी अभीप्सा होगी वैसी ही शक्ति उसका उत्तर देगी और उसी तरहका काम वह शक्ति आ-कर करेगी। ध्यानके समय अपने-आपको शून्य कर लेनेसे यह होता है कि तुममें एक आंतरिक निश्चलनीरवता पैदा हो जाती है; किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि तुम्हारा व्यक्तित्व अस्तित्व-विहीन हो गया अथवा तुम कोई निर्जीव या जड़ वस्तु बन गये। तुमने अपने-आपको खाली करके रिक्त पात्र कर लिया तो इसका यह मतलब हुआ कि तुमने उस वस्तुका आवाहन किया जो आकर उस रिक्त स्थानको भर देगी; अर्थात् तुमने अपनी आंतरिक चेतनाके दबावको सिद्धिकी ओर कर दिया। तो तुम्हारी चेतनाके स्वभाव-पर और उसका दबाव कितना है इसपर यह निर्भर करता है कि किन शक्तियोंको तुम कार्यक्षेत्रमें उतारकर ला सकोगे और यह कि वे शक्तियां तुम्हारे कार्यमें सहायता पहुंचायेंगी और उसको सफल करेंगी या तुम्हारे कार्यको विफल करेंगी अथवा यह कि वे तुम्हारे कार्य-में हानि करनेवाली और बाधा पहुंचानेवाली भी हों।

जिन अवस्थाओंके अन्तर्गत तुम ध्यान करने बैठते हो वे अनेक-विध होती हैं और उन सभी अवस्थाओंका अंदरकी ओर या नीचेकी ओर उतार लायी गयी शक्तियोंपर तथा उनके कार्यपर प्रभाव पड़ता है। यदि तुम अकेले ध्यान करने बैठो तो तुम्हारी आंतर और बाह्य अवस्था ही मुख्य होगी। और यदि तुम दूसरोंके साथ मिलकर

ध्यान करने बैठो तो फिर मुख्य बात होगी वहांकी सार्वजनिक अवस्था। परंतु इन दोनों ही दशाओंमें अवस्थाएं बदलती रहेंगी और जो शक्तियां उनका उत्तर देंगी वे कभी भी दोबारा वे ही न होंगी। उचित रूपमें की गयी सम्मिलित एकाग्रता एक महान् शक्ति बन जा सकती है। ऐसी एक प्राचीन कहावत है कि "यदि एक दर्जन सच्चे मनुष्य अपने संकल्प और अभीप्साको एक करके भगवान्‌को पुकारें तो भगवान् प्रकटे बिना न रह सकेंगे।" परंतु उनका संकल्प एकनिष्ठ होना चाहिये, उनकी अभीप्सा सच्ची होनी चाहिये। कारण, यह हो सकता है कि इस प्रकारका प्रयास करनेवाले किसी प्रकारकी जड़ताके वश अथवा किसी भ्रांत या विकृत इच्छाके कारण एक हो गये हों और ऐसी अवस्थामें प्राप्त होनेवाले परिणाम विनाशकारी हो सकते हैं।

ध्यानके समय जो पहली और अनिवार्य आवश्यकता है वह यह है कि तुम्हारी समस्त चेतना पूर्ण और नितांत सचाईकी अवस्थामें हो। यह अपरिहार्य है कि तुम अपने-आपको धोखा न दो और न दूसरेको धोखा दो या दूसरेके धोखेमें आओ। बहुधा लोगोंको कोई कामना होती है, कोई मनकी पसंद या प्राणकी वासना होती है, वे चाहते हैं कि उनके ध्यानमें होनेवाली अनुभूति किसी विशिष्ट रूपमें हो अथवा वह कुछ ऐसा मार्ग ले जिससे उनकी भावनाओं, इच्छाओं और पसंदोंको संतोष हो; वे रिक्त और निष्पक्ष होकर नहीं रहते और यह नहीं करते कि जो कुछ घटना घटे उसे केवल सचाईके साथ साक्षी रूपसे देखते रहें। ऐसी अवस्थामें यदि ध्यानके समय घटनेवाली घटना तुम्हें पसंद न हो तो तुम्हारे लिये अपने-आपको धोखा देना सहज हो जायगा। तुम देखोगे तो कोई और चीज, किंतु उसको थोड़ासा तोड़-मरोड़कर कोई दूसरी ही चीज बना डालोगे अथवा तुम यह करोगे कि किसी सहज और स्पष्ट वस्तुको विकृत कर डालो या उसको किसी असाधारण अनुभूतिमें बढ़ा चढ़ा डालो। तुम जब ध्यान करने बैठो तब तुम्हें एक बालककी भांति सरल और निष्कपट रहना चाहिये, अपने बाहरी मनको किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिये, कोई आशा

नहीं रखनी चाहिये, किसी तरहका हठ नहीं करना चाहिये। यदि यह अवस्था हो जाय तो बाकी सब कुछ तुम्हारी अंदरकी अभीप्सापर निर्भर करेगा। यदि तुम अंदरसे शांति मांगोगे, तो वह मिलेगी; यदि बल मांगोगे, शक्ति मांगोगे, ज्ञान मांगोगे तो वे भी मिलेंगे–किंतु ये सब-के-सब प्राप्त होंगे तुम्हारी ग्रहण करनेकी शक्तिके परिमाणमें। और यदि तुम भगवान्‌का आवाहन करो–सदा यह स्वीकार करते हुए कि भगवान् तुम्हारे आवाहनको सुननेके लिये सदा तैयार रहते हैं, और इसका यह अर्थ हुआ कि यदि तुम्हारा आवाहन उनतक पहुंचनेके लिये पर्याप्त रूपसे शुद्ध और बलवान् है–तो तुम्हें उसका उत्तर अवश्य मिलेगा।

१३

"मनुष्यमें सांप-बिच्छु जैसे कुछ जंतुओंसे जो एक नैसर्गिक हटाव-का भाव उत्पन्न होता है, उसका आधार क्या है ?"

इस तरहके या किसी तरहके हटावका होना कोई ऐसी बात नहीं जो अनिवार्य हो। बल्कि किसी प्रकारके हटावका बिलकुल न होना यह तो योगकी प्रधान सिद्धियोंमेंसे एक है।

जिस हटावकी तुम बात कह रहे हो वह भयके कारण होता है; यदि भय न हो तो इस प्रकारके हटावका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इस प्रकारके भयका आधार कोई तर्क नहीं होता, यह नैसर्गिक होता है, यह वैयक्तिक नहीं होता, बल्कि जातिगत होता है; यह एक आम सुझाव है और समग्र मानव-जातिकी चेतनामें समाया हुआ है। कोई व्यक्ति जब मानव-शरीर धारण करता है तब उसके साथ-साथ वह इस प्रकारके आम सुझावों, जातिगत विचारों, मानव-जातिकी अपनी भावनाओं, साहचर्यों, आकर्षणों, हटावों और भयोंके एक समूहको भी स्वीकार करता है।

परंतु एक दूसरे दृष्टिकोणसे देखें तो आकर्षण या हटावके स्वभावमें कोई चीज सर्वथा व्यक्तिगत होती है, कारण ऐसी क्रियाएं प्रत्येक मनुष्यमें एक सरीखी नहीं होतीं और ये बहुत कुछ निर्भर करती हैं विभिन्न मनुष्योंकी प्राणमय सत्ताके कंपनके प्रकार-भेदपर। ऐसे लोग हैं जिन्हें सांप आदि जंतुओंसे किसी प्रकारका हटाव नहीं होता, केवल इतना ही नहीं, बल्कि यहांतक होता है कि ये जंतु उन्हें अच्छे

लगते हैं, उनमें इनके प्रति एक प्रकारका प्राणमय आकर्षण और पसंदगी होती है।

संसार ऐसी चीजोंसे भरा पड़ा है जो सुखकर और सुन्दर नहीं है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य इन चीजोंसे दिन-रात घृणा करता रहे। घृणा, जुगुप्सा और भयके समस्त भावोंपर, जो मनको क्षुब्ध और दुर्बल करते हैं, विजय प्राप्त की जा सकती है। योगीको इन प्रतिक्रियाओंपर विजय प्राप्त करनी होगी; कारण योगमार्गपर जहां तुमने पहला ही कदम रखा कि उसकी यह मांग होती है कि तुम सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओंके सम्मुख पूर्ण समचित्तता रखो। तुम्हें सदा स्थिर, निर्लिप्त और अविचलित रहना होगा, यही है योगीका पराक्रम। यदि तुम पूर्ण रूपसे स्थिर और शांत होओ तो तुम्हारे सामने आनेपर खतरनाक और खूंखार पशु भी ठंढे पड़ जायंगे।

हटाव अज्ञानकी एक क्रिया है, यह आत्म-संरक्षणके लिये होनेवाली एक नैसर्गिक चेष्टा है। परंतु जो चीज तुम्हारा सबसे अधिक संरक्षण करती है वह किसी खतरेसे बिना कुछ सोचे विचारे दूर हट जाना नहीं, बल्कि वह है ज्ञान, इस बातका ज्ञान कि खतरा किस प्रकारका है और जिन साधनोंसे वह टल सकता या निष्फल हो सकता है उन साधनोंका सचेतन उपयोग। ये क्रियाएं जिस अज्ञानमेंसे जन्म लेती हैं वह अज्ञान एक साधारण मानव-अवस्था है, किंतु उसपर विजय प्राप्त की जा सकती है; कारण हम असंस्कृत मानव-प्रकृतिसे, जहांसे हमारी बाह्य सत्ताका आरंभ होता है और जो हमारे चारों ओर घिरी हुई है, बंधे हुए नहीं हैं।

बढ़ती हुई चेतनाद्वारा अज्ञान भगा दिया जाता है। जिस चीजकी तुम्हें जरूरत है वह है चेतना, सदैव अधिक और उससे अधिक चेतना, शुद्ध, सरल और ज्योतिर्मय चेतना। इस प्रकारकी पूर्णताको प्राप्त हुई चेतनाके प्रकाशमें चीजें अपने असली रूपमें दिखायी देती हैं, न कि उस रूपमें जैसा कि वे अपनेको दिखाना चाहती हैं। यह प्रकाश एक चित्रपटकी तरह होता है जो उसके सामनेसे गुजरी हुई चीजोंको हूबहू

दिखा देता है। इस प्रकाशमें तुम देख पाते हो कि कौनसी चीज ज्योतिर्मय है और कौनसी अंधकारमय, कौनसी चीज ऋजु है और कौनसी वक्र। तुम्हारी चेतना एक चित्रपट या दर्पणकी तरह काम करती है, पर यह तब होता है जब तुम निदिध्यासनकी अवस्थामें होते हो, केवल द्रष्टामात्र रहते हो; और जब तुम सक्रिय होते हो तब तो यह चेतना सर्चलाइटकी तरह हो जाती है। यदि तुम्हें किसी स्थानकी किसी चीजको साफ-साफ देखना हो और उसकी अंदरूनी जांच-पड़ताल करनी हो तो बस तुम्हें केवल यही करना होगा कि अपनी इस सर्चलाइटको तुम उस चीजकी ओर कर दो।

इस प्रकारकी पूर्ण चेतनाको प्राप्त करनेका उपाय यह है कि तुम अपनी इस समयकी चेतनाकी उसके वर्त्तमान घेरे और सीमासे बाहर निकालकर विशाल बनाओ, उसे शिक्षित करो, उसे भागवत ज्योतिकी ओर खोलो और उसमें भागवत ज्योतिको स्वतंत्र और स्वच्छंद रूपसे काम करने दो। परंतु यह ज्योति अपना पूरा-पूरा और अबाधित कार्य तभी कर सकती है जब कि तुम समस्त लालसाओं और भयसे मुक्त हो गये होओ, जब तुम्हारे अंदर कोई भी मानसिक पक्षपात हो ही नहीं; कोई प्राणमय पसंद हो ही नहीं, कोई भौतिक आशंका या आकर्षण हो ही नहीं जो तुम्हें तमसाच्छन्न कर सकें या बंधनमें डाल सकें।

हटाव या दुर्बलताकी एक क्रिया है। यह इसलिये होता है कि किसी वस्तुका तुमपर कभी असर हुआ है, उससे तुमको आघात पहुंचा है और तुम उस आघात पहुंचानेवाली वस्तुसे दूर हटना चाहते हो। यह हो सकता है कि किसी सत्ता या मनुष्य या पशु या तज्जनित प्रभावोंका वातावरण तुम्हारे लिये हानिकर हो—यद्यपि सब लोग इस बातको इस रूपमें अनुभव न भी करते हों—और ज्योंही वह वातावरण सीधे तुम्हें स्पर्श करे त्योंही तुम झिझक जाओ। परंतु यदि तुम पर्याप्त मात्रामें बलवान् होओ तो तुम इस खतरेको जब वह तुमसे दूर हो तभी रोक दोगे और उसको अपने पासतक पहुंचने न दोगे या अपनेपर चोट न करने दोगे। कारण, तुरंत तुमको यह ज्ञान हो जायगा

और दिखायी दे जायगा कि वहां कोई हानिकर वस्तु है और तुम अपनी रक्षाके लिये एक बेड़ा बांध लोगे, और यदि वह वस्तु तुम्हारे नजदीक आ भी जाय तो भी वह तुम्हारा स्पर्श न कर सकेगी; उसकी उपस्थितिसे तुम अक्षत और अविचलित रहोगे।

"यदि भगवान् पूर्ण प्रेममय हैं और वे ही सृष्टिके मूल हैं तो फिर पृथ्वीमें ये सब जो बुराइयां भरी पड़ी हैं, वे कहांसे आयी हैं?"

सब कुछ भगवान्से ही आया है; किंतु उस एक चेतनाने, परमात्माने जगत्को सीधा अपने-आपमेंसे नहीं रचा है; एक शक्ति उसमेंसे निकली और वह अपने कार्यके अनेक क्रमविन्यास करती हुई नीचे उतरती चली गयी तथा वह अनेक प्रभावोंके अंदरसे गुजरी। अनेक सृष्टिकर्त्ता या आकार-निर्माता—यही उनका अधिक उपयुक्त नाम होगा—हैं जिन्होंने सृष्टिकी रचनामें प्रमुखका काम किया है। ये मध्यवर्त्ती प्रतिनिधि हैं, और मैं इन्हें सृष्टिकर्त्ताकी अपेक्षा आकार-निर्माता कहना अधिक पसंद करती हूं; कारण इन्होंने जड़तत्त्वको केवल आकार, प्रवृत्ति और स्वभाव ही दिया है। ये आकारनिर्माता अनेक हुए हैं, और इनमेंसे कितनोंने सामंजस्यपूर्ण और कल्याणकारी वस्तुओंका निर्माण किया है तो कितनोंने हानिकारक और बुरी वस्तुएं गढ़ी हैं। और कुछ तो बनानेवालोंकी अपेक्षा विकृत करनेवाले ही हुए हैं, कारण उन्होंने जिस वस्तुको दूसरोंने अच्छे रूपमें आरंभ किया था उसमें हस्तक्षेप किया और उसे बिगाड़ डाला।

"क्या यह ठीक नहीं है कि अनेकविध जगतोंके समूहकी जो यह सृष्टि है उसमें अपना यह अन्नमय जगत् सबसे नीची श्रेणीका है?"

हम लोग जिस जगत्में रहते हैं वह अत्यन्त स्थूल जगत् है। परंतु चूंकि यह स्थूल है इसलिये ही नीची श्रेणीका नहीं है; यदि यह नीची

श्रेणीका है तो वह इसलिये है कि यह अज्ञानमय और अंधकारमय है न कि इसलिये कि यह स्थूल है। जड़तत्त्वको अज्ञान और अंधकारका पर्यायवाची बना देना भूल है। इसके अतिरिक्त हम अकेले स्थूल-भौतिक जगत्में ही तो नहीं रहते, यह तो उन अनेक जगतोंमेंसे जिनमें कि हमारा युगपत् निवास है, केवल एक जगत् है और यह एक तरहसे इन सब जगतोंमेंसे सबसे अधिक प्रधान जगत् है। कारण जड़तत्त्वका यह जगत् वह स्थान है जहां बाकीके सब जगत् समाहृत होते हैं, यही वह क्षेत्र है जहां बाकीके सभी जगतोंका पिंडीकरण होता है; यह वह स्थान है जहां सभी जगतोंको अभिव्यक्त होना है। वर्त्तमानमें यह असामंजस्यपूर्ण और तमोग्रस्त है सही; किंतु यह तो केवल एक दुर्घटना है, ऐसा समझो कि घुड़दौड़की एक बाजीका 'फाल्स स्टार्ट' हो गया है। एक दिन आयेगा जब यह सुन्दर होगा, छंदोमय होगा, ज्योतिसे भरपूर होगा, कारण यही वह परिपूर्णता होगी जिसके लिये यह बनाया गया है।

१४

"क्या योगी कलाकार हो सकता है अथवा क्या कोई कलाकार योगी हो सकता है? कलाका योगसे क्या संबंध है?"

ये दो वस्तुएं अर्थात् कला और योग तुम जितना मानते दीखते हो उतने परस्परविरोधी नहीं हैं। ऐसी कोई चीज नहीं है जो योगीको कलाकार होनेसे अथवा कलाकारको योगी होनेसे रोके। परंतु योगमें प्रवेश करनेके बाद वस्तुओंका जो तुम मूल्य आंकते हो उसमें एक गंभीर परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन जैसा कि और चीजोंके संबंधमें होता है वैसा ही कलाके संबंधमें भी होता है। अब तुम कलाको बिलकुल दूसरे ही दृष्टिबिंदुसे देखने लगते हो। अब कला तुम्हारे लिये एकमात्र परम वस्तु नहीं रह जाती कि तुम उसीमें पूर्ण रूपसे तन्मय हो जाओ, कोई ऐसी चीज नहीं रह जाती जो जीवनका ही लक्ष्य हो। कला एक साधन है, साध्य नहीं; यह तो भाव-व्यंजनाका एक साधन-मात्र है। और तब कलाकार ऐसा समझना छोड़ देता है कि सारा संसार ही उसकी कलाकृतिको मुग्ध होकर देख रहा है अथवा यह कि उसकी रचना ही संसारकी अबतककी रचनाओंमें सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। अब उसके जीमें अपने व्यक्तित्वका कोई मूल्य नहीं रहता; वह तो एक प्रतिनिधि होता है, एक माध्यम होता है, और उसकी कला भगवान्के साथ उसके संबंधोंकी व्यंजना करनेका एक साधन। और इसी प्रयोजनके लिये वह अपनी कलाका उपयोग करता है, ठीक उसी

तरह जैसे कि उसने अपनी प्रकृतिकी शक्तियोंके अंगभूत अन्य किसी भी साधनका किया होता।

"परंतु योग-साधन आरंभ करनेके बाद भी क्या कलाकार-को कोई रचना करनेकी प्रवृत्ति होती है?"

उसे इस तरहकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होनी चाहिये? वह भगवान्के साथ अपने संबंधकी व्यंजना अपने कलारूपी साधनके द्वारा ठीक उसी प्रकार कर सकता है जैसा कि वह और किसी साधनके द्वारा करता। यदि तुम चाहते हो कि कला सच्ची और उत्कृष्टतम प्रकारकी हो तो उसका रूप तो यही होना चाहिये कि वह इस जड़प्राकृतिक जगत्में उतार लायी हुई किसी दिव्य जगत्की व्यंजना हो। सभी सच्चे कला-कारोंको इस तरहका कुछ अनुभव होता है, इस तरहका कुछ भान होता है कि वे किसी उच्चतर जगत् और इस भौतिक जगत्के बीच एक माध्यम हैं। यदि तुम इस दृष्टिसे देखो तो कला योगसे बहुत भिन्न वस्तु नहीं है। परंतु बहुधा कलाकारको इस प्रकारका एक अस्पष्ट अनुभवमात्र ही होता है, उसे इस बातका सचेतन ज्ञान नहीं होता। तब भी, मैं कुछ कलाकारोंको जानती थी जिन्हें यह ज्ञान था; वे अपनी कला-रचना सचेतन होकर करते थे, वे यह जानते थे कि वे कौन हैं और यह कला-रचना वे क्यों कर रहे हैं। उन्होंने जो रचनाएं कीं उसमें अपने व्यक्तित्वको बहुत महत्त्व नहीं दिया, उसे जनताके आगे नहीं रखा, उन्होंने अपने कार्यको ऐसा समझा कि यह उनकी भगवान्को एक भेंट है और उन्होंने अपनी कलाद्वारा भगवान्के साथ अपने संबंधको व्यक्त करनेकी चेष्टा की।

मध्यकालीन युगमें यही कलाका माना हुआ उद्देश्य था। 'आदि-कालीन' चित्रकारोंमें, मध्यकालीन युरोपके गिरजाघरोंके निर्माता-ओंमें कलाके संबंधमें यही भाव था, और कुछ भी नहीं। भारतवर्षकी स्थापत्यकला, मूर्त्तिनिर्माणकला और चित्रकारी सब कुछ इसी मूल

भावसे उत्पन्न हुई हैं और इन सबकी प्रेरणा इसी आदर्शसे हुई थी। मीराबाईके भजनोंका, त्यागराजके संगीतका, भारतके भक्तों, संतों और ऋषियोंके काव्य-साहित्यका स्थान संसारकी सर्वोत्कृष्ट कला-संपत्तिमें है।

"परंतु कोई कलाकार यदि योग-साधना करता है तो क्या उससे उसकी रचनामें कोई उन्नति होती है ?"

कलाकी साधनाके मूलमें भी वही सिद्धांत है जो योग-साधनामें है। दोनोंका उद्देश्य अधिकाधिक सचेतन होना है; दोनोंमें ही तुम्हें साधारण दृष्टि और अनुभवसे परेकी वस्तुको देखना और अनुभव करना सीखना पड़ता है, अंतःमें प्रवेश करना और वहां जो गभीरतर वस्तुएं हैं उन्हें बाहर ले आना सीखना पड़ता है। चित्रकारोंको अपने नेत्रोंकी चेतनाकी वृद्धिके लिये एक साधनाका अनुसरण करना पड़ता है, जो स्वयं प्रायः योग ही होती है। जो सच्चे कलाकार होते हैं और जो बाह्य दृष्टिसे परेकी वस्तुओंको देखनेका प्रयास करते तथा अपनी कलाका उपयोग आंतर जगत्‌की व्यंजनाके लिये करते हैं, उनकी चेतना इस एकाग्रताद्वारा वृद्धिको प्राप्त होती है और यह चेतना योगके द्वारा जो चेतना मिलती है उससे भिन्न नहीं होती। तो फिर यौगिक चेतना-को कलासंबंधी रचनामें सहायरूप क्यों नहीं होना चाहिये ? मैं कुछ ऐसे लोगोंको जानती हूं जिनकी शिक्षा बहुत कम हुई थी और जो बहुत कुशल नहीं थे, किंतु फिर भी उनको योगके द्वारा लेखन-कला और चित्रकारीकी अतिसुन्दर योग्यता प्राप्त हुई थी। मैं तुमको इस बातके दो उदाहरण दे सकती हूं। इनमें एक तो युवती थी जिसे किसी तरहकी भी शिक्षा नहीं मिली थी। वह नर्तकी थी और साधारणतया अच्छा नाचती थी। योग ले लेनेके बाद वह केवल अपने मित्रोंके आगे ही नाचती थी, किंतु अब उसके नृत्यकी भाव-व्यंजना और सुन्दरतामें एक ऐसी गहराई आ गयी जो पहले नहीं थी। और यद्यपि वह

शिक्षिता नहीं थी फिर भी वह आश्चर्यजनक लेख लिखने लगी; इसका कारण यह था कि उसे सूक्ष्म जगतोंके दृश्योंका दर्शन होता था और उनका वर्णन वह अत्यंत सुन्दर भाषामें करती थी। परंतु उसके योगमें उतार-चढ़ाव आता था, और जब वह अच्छी अवस्थामें होती तब तो सुन्दर ढंगसे लिखती, अन्यथा वह सर्वथा मंद, मूर्ख और रचना-शक्तिविहीन हो जाती थी। दूसरा एक नौजवान था जिसने कलाका अध्ययन किया था, किंतु बिलकुल थोड़ासा ही। वह किसी कूटनीतिज्ञका लड़का था, उसे कूटनीतिक जीवनकी शिक्षा-दीक्षा दी गयी थी; किंतु उसका जीवन भोग-विलासमें बीतने लगा और वह ऊंचे दर्जेकी पढ़ाई न कर सका। फिर भी ज्योंही उसने योग करना आरंभ किया त्योंही वह अंतःस्फुटित चित्रकारी करने लगा जिसमें किसी आंतरिक ज्ञानकी अभिव्यक्ति झलकती थी और जो प्रतीकात्मक प्रकारकी होती थी; अंतमें वह एक महान् कलाकार हुआ।

"कलाकार प्रायः अनियमित आचरणवाले और चरित्रभ्रष्ट क्यों होते हैं?"

जो ऐसे होते हैं उनके ऐसे बन जानेका कारण यह होता है कि वे साधारणतया प्राणमय भूमिकामें रहते हैं और उनका प्राण-भाग उस जगत्‌की शक्तियोंके प्रति अत्यंत संवेदनक्षम होता है और यह उस जगत्‌के नाना प्रकारके प्रभावों और आवेगोंको ग्रहण करता रहता है और इस भागको वशमें रखनेकी उनमें शक्ति नहीं होती। और बहुधा यह भी होता है कि उनके विचार अत्यंत स्वतंत्र होते हैं और साधारण मनुष्यका जीवन जिन तुच्छ सामाजिक रूढ़ियों और नैतिक प्रथाओंद्वारा नियंत्रित होता है उसमें वे विश्वास नहीं करते। चाल-चलनसंबंधी प्रचलित नियमोंसे तो वे अपनेको बंधा हुआ महसूस नहीं करते और इन नियमोंके स्थानपर आंतरिक नियमोंकी प्रतिष्ठा उनमें अभीतक हुई नहीं होती। चूंकि उनके अंदर वासनात्माकी गतियोंको

रोकनेके लिये कोई भी चीज नहीं होती, इसलिये उनका जीवन आसानी-से स्वछंद या असंयमित हो जाता है। परंतु सभीकी यह हालत नहीं होती। मैं दस वर्षोंतक कलाकारोंके बीच रही हूं और अनेकोंको सोलह आने सद्गृहस्थ पाया; वे विवाहित थे और व्यवस्थित जीवन बिताते थे, सुपिता थे, सुपति थे तथा क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इस विषयके जो नैतिक सिद्धांत हैं उनका अपने जीवनमें अत्यंत कठोरता-पूर्वक पालन करते थे।

एक कारण है जिससे योग कलाकारकी उत्पादक-प्रेरणाको बंद कर सकता है। यदि उसकी कलाका मूल प्राणमय जगत्में हो तो ज्योंही वह योगी होगा त्योंही उसकी वह प्रेरणा चली जायगी, अथवा यों कहें कि जिस मूलसे उसे प्रेरणा मिलती थी वह अब उसे प्रेरित नहीं करेगा, कारण तब प्राणमय जगत् अपने सच्चे स्वरूपमें उसकी आंखोंके सामने आ जाता है, वह अपने सच्चे मूल्यको धारण कर लेता है, और यह मूल्य बहुत ही आपेक्षिक होता है। अपनेको कलाकार कहनेवाले अधिकांश व्यक्ति केवल प्राणमय जगत्से ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं और इस प्रेरणामें कोई उच्च या महान् मर्म नहीं होता। परंतु जब कोई सच्चा कलाकार, ऐसा कलाकार जो यह चाहता है कि उसकी रचनाका मूल किसी उच्चतर जगत्में हो, योगकी ओर मुंह करता है, तो वह यह पायेगा कि उसकी प्रेरणा अधिक सीधी और शक्तिशाली हो गयी है तथा उसकी भाव-व्यंजना अधिक स्पष्ट और अधिक गभीर। जिनके पास सच्चा कला-धन है उनका यह धन योगकी शक्तिसे बढ़ जायगा, किंतु जिनमें कलाका मिथ्या दिखावा होगा, उनका वह दिखावा भी गायब हो जायगा या उसका आकर्षण जाता रहेगा। जिसमें योगकी सच्ची लगन होती है उसकी सूक्ष्म दृष्टि खुलते ही उसपर जो पहला असर पड़ता है वह यह है कि वह जो कुछ करता है वह विश्वव्यापी अभिव्यक्ति, विश्व-व्यापी गतिकी तुलनामें अत्यंत आपेक्षिक होता है। परंतु कलाकार बहुधा वृथाभिमानी होते हैं और अपनेको एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, मानव-जगत्में एक प्रकारका अर्द्धदेवता समझते हैं। बहुतसे कलाकार

कहते हैं कि उनका जो यह विश्वास है कि वे कोई परम महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं, ऐसा यदि वे न समझें तो फिर वे कोई रचना कर ही न सकेंगे। परंतु मेरा कुछ ऐसे कलाकारोंसे परिचय रहा है जिन्हें किसी उच्चतर जगत्से प्रेरणा मिलती थी और यह होते हुए भी उनका ऐसा विश्वास नहीं था कि वे जो कुछ करते हैं वह बहुत अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इस तरहका भाव ही कलाके सच्चे भावके अधिक समीप है। यदि कोई मनुष्य कलाके अंदर अपने-आपको अभिव्यक्त करनेके लिये वास्तवमें प्रेरित हुआ है तो उसका यह अर्थ होता है कि भगवान् उसके अंदर इस मार्गद्वारा प्रकट होना चाहते हैं, और तब योगसे उसकी कलाको लाभ ही होगा, हानि नहीं। परंतु यही तो सारा सवाल है; क्या कलाकारको भगवान्ने नियुक्त किया है अथवा वह अपने-आप ही नियुक्त हो गया है?

"परंतु कोई यदि योग-साधना करता है तो क्या वह शेक्सपियर या शेली जैसा उच्च कोटिका कलाकार हो सकता है? ऐसा कोई उदाहरण तो नहीं मिलता?"

क्यों नहीं? महाभारत और रामायण शेक्सपियर या अन्य किसी भी कविकी काव्य-रचनासे अवश्य ही हीन कोटिके नहीं हैं, और इनके बारेमें ऐसा कहा जाता है कि ये उन मनुष्योंकी कृतियां हैं जो ऋषि थे तथा जिन्होंने यौगिक तपस्या की थी। गीता, जिसका स्थान उप-निषदोंकी ही तरह एक ही साथ श्रेष्ठतम साहित्यिक और श्रेष्ठतम आध्यात्मिक पुस्तकोंमें है, किसी ऐसे व्यक्तिद्वारा नहीं लिखी गयी थी जिसे योगका अनुभव ही नहीं था। और भारतवर्ष या फारस या अन्य स्थानोंके संतों, सूफियों या भक्तोंकी रची हुई विख्यात कविता-ओंमें तुम्हारे मिल्टन और शेलीकी रचनाओंसे क्या कहीं कोई न्यूनता है? और फिर क्या तुम समस्त योगियोंको और उनकी कृतियोंको जानते हो? क्या तुम यह कह सकते हो कि कौनसा कवि और रचयिता

तो भगवान्‌के सचेतन संपर्कमें था और कौन नहीं ? कुछ लोग ऐसे हैं जो योगीके नामसे विख्यात नहीं हैं, वे गुरु नहीं हैं न उनके कोई चेले ही हैं, वे क्या करते हैं इसको संसार नहीं जानता, वे ख्यातिके लिये लालायित नहीं हैं और मनुष्योंके ध्यानको अपनी ओर आकर्षित नहीं करते। परंतु उनमें उच्चतर चेतना है, वे किसी भागवत शक्तिके संस्पर्शमें हैं, और ये लोग जब कोई रचना करते हैं तो वहींसे करते हैं। भारतवर्षकी सर्वोत्कृष्ट चित्रकारियों एवं सर्वोत्तम मूर्त्तियों और इमारतोंके अधिकांश भागको बौद्ध भिक्षुओंने बनाया था जिनका जीवन आध्यात्मिक मनन निदिध्यासन और साधनामें ही बीता। उन्होंने उत्कृष्टतम कला-रचनाएं कीं, किंतु भावी संततिके लिये अपना नाम छोड़ जानेकी परवा नहीं की। योगी अपनी कलाद्वारा साधारणतया विख्यात क्यों नहीं हैं इसका प्रधान कारण यह है कि वे कला-व्यंजनाको अपने जीवनका प्रमुखतम भाग नहीं मानते और इसमें जो वे अपना इतना समय और शक्ति खर्च करते हैं वह एक निरे कलाकारकी तरह नहीं करते। और वे जो कुछ रचना करते हैं वह सदा जनसाधारण-तक पहुंचती भी नहीं। ऐसे अनेक हैं जिन्होंने महान् कला-रचनाएं कीं, किंतु उन्हें संसारमें प्रकाशित नहीं किया।

"क्या योगियोंने शेक्सपियरसे बढ़िया नाटक लिखे हैं ?"

नाटक कलाका श्रेष्ठतम अंग नहीं है। एक लेखकने मुझसे एक दिन कहा कि नाटककी कला अन्य कलाओंसे ऊंचे दर्जेकी है और स्वयं कला तो जीवनसे भी अधिक महान् है। परंतु यह बात ठीक ऐसी ही नहीं है। कलाकारका यह समझना, यह विश्वास करना भूल है कि कलासंबंधी रचना कोई ऐसी चीज है जो स्वयं अपने-आपसे स्थित है, अपने-आपके लिये है और संसारके अन्य विभागोंसे स्वतंत्र है। इन कलाकरोंने कलाको ऐसा समझा है मानो जीवनके विशाल क्षेत्रपर यह एक क्षणजीवी पदार्थकी तरह है, कोई ऐसी चीज

है जो नैमित्तिक और बाह्य है, कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसके साथ जीवन-की घनिष्ठता हो। इनके अनुसार कला गभीर और स्थायी वस्तु-सत्ता-ओंतक नहीं पहुंचती। उनका स्पर्श नहीं करती, कला जीवनका कोई यथार्थ और अविभाज्य अंग नहीं बनती। सच्ची कलासे अभिप्रेत है उस परम सुन्दरकी अभिव्यंजना, लेकिन यह व्यंजना होगी विश्व-गतिके साथ अंतरंग घनिष्ठता रखते हुए। संसारके बड़े-से-बड़े राष्ट्रोंने और संसारकी सर्वोच्च संस्कृत जातियोंने कलाको सदा ही जीवनका एक भाग माना है और उन्होंने इसको जीवनकी सेवा करनेके उपयोगी बनाया है। जापानमें कलाका जो सर्वोत्कृष्ट काल था उसमें कला ऐसी ही थी; कलाके इतिहासके जो सर्वोत्कृष्ट काल हैं उन सबमें कलाका यही स्वरूप था। परंतु अधिकांश कलाकार जीवनके प्रांतभागपर परिपुष्ट होनेवाले परोपजीवी जंतुओंकी तरह होते हैं। वे शायद यह नहीं जानते कि कला तो जीवनमें और जीवनके द्वारा भग-वान्‌की अभिव्यक्तिस्वरूप ही होनी चाहिये। प्रत्येक वस्तुमें, सर्वत्र, प्रत्येक संबंधमें सत्यको ही उसके सर्वग्राही छंदमें प्रकाशित करना चाहिये तथा जीवनकी प्रत्येक गति सौंदर्य और सामंजस्यकी एक-एक अभिव्यक्तिस्वरूप होनी चाहिये। कौशल कला नहीं है, प्रवीणता कला नहीं है। कला तो जीता-जागता सामंजस्य और सौंदर्य है जिसे जीवनकी समस्त गतियोंमें अभिव्यक्त करना चाहिये। सौंदर्य और सामंजस्यकी जो यह अभिव्यक्ति है वह पृथिवीपर भगवान्‌के साक्षा-त्कारका एक अंग ही है, उसका महत्तम अंग है यहांतक कहना भी ठीक होगा।

कारण, विज्ञानमय दृष्टिकोणसे सौंदर्य और सामंजस्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी भगवान्‌की अन्य कोई भी अभिव्यक्ति। परंतु इनको अन्य अभिव्यक्तियोंसे अलग नहीं कर डालना चाहिये, अन्य समस्त संबंधोंसे जुदा करके नहीं देखना चाहिये, समग्रतामेंसे बाहर नहीं निकाल लेना चाहिये; जीवनकी जो समग्ररूप अभिव्यक्ति है उसके साथ इनको एक करके रखना चाहिये। लोगोंको यह कहनेकी

आदत है कि, 'अरे, ये तो कलाकार हैं ! ' मानो कलाकार अन्य मनुष्योंके बीच एक मनुष्य नहीं है, बल्कि वह किसी दूसरे ही समाजसे संबंध रखनेवाला कोई असाधारण व्यक्ति है, तथा उसकी कला भी कोई असाधारण और निराली चीज है जिसे संसारकी साधारण वस्तुओंके जैसा नहीं समझा जाना चाहिये। 'कला कलाके लिये' वाली कहावत भी इसी भूलको सत्यके नामसे सुझाने और समझानेकी चेष्टा करती है। यह भूल वैसी ही है जैसी कि लोग उस समय करते हैं जब वे किसी मढ़ी हुई तसवीरको अपने बैठकखानेके बीचोबीच–कमरेके अन्य सरोसामान और दरोदीवारके साथ उसका कुछ भी मेल न होते हुए– रख देते हैं, यह तसवीर वहां केवल इसलिये रखी जाती है क्योंकि वह एक "कला-रचना है"।

सच्ची कला अखंड है और समग्रतासे संबंध रखती है; वह एक है और जीवनके साथ गुंथी हुई है। प्राचीन यूनान और प्राचीन मिश्रमें इस प्रकारकी घनिष्ठ अखंडताका कुछ नमूना तुम्हें मिलता है; कारण उनके चित्र और मूर्त्तियां तथा कलासंबंधी अन्यान्य सभी कुछ, किसी भवनविशेषकी स्थापत्य-कलाविषयक योजनाके अंगभूत ही बनाया और सजाया गया है, वहांका प्रत्येक ब्योरा इस अखंडताका ही एक भाग है। जापानमें कलाका यही स्वरूप है, अथवा कम-से-कम थोड़े दिन पहलेतक, जबतक कि उसपर उपयोगितावादी और व्यावहारिक आधुनिकवादका धावा नहीं हुआ था, तबतक था। जापानी मकान कलाकी इस अखंडताका सुन्दर नमूना होता है। उसमें सदा उचित वस्तु उचित स्थानपर होती है, ऐसी कोई चीज नहीं मिलती जो गलत तौरपर सजायी या रखी गयी हो, न कोई चीज बहुत अधिक होती है न कोई बहुत कम। हर चीज ठीक उतनी ही होती है जितनी आवश्यक हो और स्वयं वह मकान तो इर्दगिर्दकी प्रकृतिके साथ अद्भुत रूपसे घुला-मिला हुआ होता है। यही बात भारतवर्षकी है, यहां भी चित्रकारी मूर्त्तिनिर्माणकला और स्थापत्यकला एक सर्वांगपूर्ण सौंदर्यमें गुंथी हुई थी, भगवान्‌की भक्तिकी ओर इनका एक ही संगतिपूर्ण प्रवाह था।

इसके बाद संसारके अंदर कलाकी इस दिशामें बड़ी भारी अधोगति हुई। कलाकी यह गिरती दशा विक्टोरिया युगमें और फ्रांसमें उसके द्वितीय साम्राज्यके युगसे आरंभ हुई। तबसे कमरोंमें ऐसे चित्रोंको लटकानेकी आदत पड़ गयी है जिनका आस-पासकी चीजोंके लिये कोई अर्थ नहीं होता; अब तो कोई भी चित्र, कलासंबंधी कोई भी चीज किसी भी जगह रख दी जा सकती है और इससे उस कमरेकी समग्रतामें कोई विशेष अंतर आया हो ऐसा नहीं समझा जाता। कलाका आज-कल अर्थ हो गया है कौशल, चातुरी और प्रवीणताका प्रदर्शन करना, न कि एक घरके अंदर सामंजस्य और सौंदर्यकी किसी सर्वांगपूर्ण व्यंजनाको मूर्त्तिमान करना।

परंतु मध्यम वर्गकी रुचिमें लुढ़क जानेकी इस अवस्थाके विरुद्ध हालमें बगावत शुरू हो चुकी है। यह प्रतिक्रिया इतनी वेगवती हुई कि ऐसा दीखने लगा मानो लोग कलाको उलटे मार्गकी ओर बहा ले जा रहे हैं और वह किसी निरर्थकताके दलदलमें धंसी जा रही है। परंतु धीरे-धीरे इस विशृंखलाकी गहराईमेंसे कोई चीज फूट निकली है जो अधिक युक्तिसंगत, तर्कपूर्ण और संहत है और जिसे एक बार फिरसे कलाका नाम दिया जा सकता है, जिसे कलाका जीर्णोद्धारित अथवा, हम ऐसी आशा करें कि, पुनरुज्जीवित रूप कहा जा सकता है।

कलाको उसके तात्त्विक सत्यमें देखें तो यह भागवत अभिव्यक्तिका, सौंदर्यका अंग है, उससे किसी तरह कम नहीं। इस दृष्टिसे देखनेपर सच्चे कलाकार संभवतः बहुत थोड़ेसे ही मिलेंगे; किंतु फिर भी कुछ लोग हैं और इनको मजेमें योगी कहा जा सकता है। कारण योगीकी तरह ही कलाकारको भी अपनी प्रेरणाकी प्रतीक्षा करने और उसको पानेके लिये हृदयकी गहराईमें उतरकर चिंतन करना होता है। किसी वास्तविक सुन्दर वस्तुकी रचना करनेके लिये पहले उसे उस वस्तुको अपने अंदर देखना पड़ता है, उस वस्तुको अपनी आंतरिक चेतनामें एक अखंड वस्तुके रूपमें सिद्ध करना पड़ता है। इस प्रकार उसे जब किसी वस्तुकी प्राप्ति, उसका दर्शन हो जाता है, वह वस्तु

उसके हृदयमें अंकित हो जाती है केवल तभी वह उस वस्तुको बाहर प्रकट कर सकता है। वह अपनी रचना इस महत्तर आंतरिक दर्शनके अनुसार ही करता है। यह भी एक तरहकी योग-साधना ही है, कारण इसके द्वारा उसका आंतरिक जगतोंके साथ घनिष्ठ समागम होने लगता है। लियोनार्डो-द-विंची जैसे मनुष्य योगीके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थे। और यदि उनको सबसे बड़ा चित्रकार न भी कहें तो भी वे बड़े-से-बड़े चित्रकारोंमेंसे एक तो थे ही—हालांकि उनकी कला केवल चित्रकारीमें ही समाप्त नहीं हुई।

संगीत भी साररूपसे आध्यात्मिक कला ही है और सदा ही इसका धार्मिक भाव और आंतरिक जीवनसे साहचर्य रहा है। परंतु यहां भी, इसको भी हमने किसी स्वच्छन्द और स्वनिर्भर कलामें, एक क्षणजीवी कलामें परिणत कर दिया है—नाटकका संगीत इसी तरह-का है। हमारे देखने और सुननेमें आनेवाली अधिकांश कला-रचनाएं इसी कोटिकी हैं और अधिक-से-अधिक हम उनमें उनके पारिभाषिक दृष्टिकोणसे ही रस ले सकते हैं। मैं यह नहीं कह रही हूं कि नाटकके संगीतको भी उच्चतर कला-व्यंजनाका माध्यम नहीं बनाया जा सकता; कारण आकार चाहे जो कुछ भी क्यों न हो लेकिन वह गभीरतर हेतुके लिये उपयोगमें लाया जा सकता है। सब कुछ स्वयं उस वस्तुपर, किस प्रकार उसका उपयोग किया जाता है इसपर और उसके पीछे क्या भाव है इसपर, निर्भर करता है। कोई भी चीज ऐसी नहीं जो भगवान्‌के हेतुको सिद्ध करनेके उपयोग-में न लायी जा सके—ठीक उसी तरह जैसे कोई भी चीज यह बहाना भी कर सकती है कि वह भगवान्‌के यहांसे आयी है, फिर चाहे वह क्षणजीवी कोटिकी ही हो।

आधुनिक कालके महान् संगीतज्ञोंमें ऐसे बहुतेरे हुए हैं जिनकी चेतना जब वे कोई कला-रचना करने बैठते थे तब किसी उच्चतर चेतनाके संस्पर्शमें आ जाती थी। सीजर फ्रेंक (बेलजियमके एक प्रख्यात संगीतज्ञ) एक प्रेरित व्यक्तिकी तरह आरगन बजाते थे;

वे अन्तरात्माके जीवनके प्रति खुले हुए थे और उनको इस बातका सचेतन ज्ञान था तथा वे बहुत अंशतक इस जीवनको अपने वादनद्वारा अभिव्यक्त करते थे। विथोवेन (बेलजियमके एक संगीतज्ञ) ने जब ९वीं सिम्फनीकी रचना की थी तब उनको किसी ऊर्ध्व लोककी ओर अपना उद्घाटन होने और इस पार्थिव भूमिकापर किसी ऊर्ध्व लोकके उतर आनेका दर्शन हुआ था; वाग्नर (प्रख्यात जर्मन संगीतज्ञ) को सूक्ष्म लोकोंसे बलवान् और शक्तिशाली सूचनाएं मिलती थीं। उनको सूक्ष्म गुह्य विद्याका सहज ज्ञान था और सूक्ष्म जगत्का उन्हें भान होता था तथा इसके द्वारा ही उनको उनकी महत्तम प्रेरणाएं प्राप्त हुई थीं। परंतु उनकी रचनाएं ज्यादातर प्राणमय भूमिकापरसे ही होती थीं और उनका मन उनकी प्रेरणाओं-में लगातार हस्तक्षेप करता रहता था तथा उनको यांत्रिक कर डालता था। उनकी रचनाका अधिकांश भाग शक्तिशाली होते हुए भी बहुत अधिक मिलावटी, बहुधा अस्पष्ट और क्लिष्ट हुआ है। परंतु जब कभी वे प्राणमय और मनोमय भूमिकाका अतिक्रमण कर किसी उच्चतर लोकमें पहुंच सके थे, तब उनको जो थोड़ीसी झांकियां हुई थीं उनमें असाधारण सौंदर्य था। यह उनके 'पार्सिफाल' नाटकके संगीतमें, उनकी 'टीस्टन' और 'इस्युस्टी' नामी प्रेम-कथाओंके संगीतके कुछ अंशमें तथा 'लास्ट ग्रेट ऐक्ट' के संगीतके अधिकांश भागमें अभि-व्यक्त हुआ है।

नृत्यकलाकी आधुनिक संसारने क्या दशा कर दी है उसे भी जरा देखो, एक समय नृत्यकलाकी जो अवस्था थी उससे इसकी तुलना करो। एक ऐसा काल था जब कि नृत्य आंतरिक जीवनकी सर्वोच्च व्यंजनाओं-मेंसे एक था, इसका धर्मसे संबंध था, यह धार्मिक पूजाओंको करने, उत्सवोंको मनाने और भगवान्‌की भक्ति करनेका एक मुख्य अंग था। कुछ देशोंमें यह सौंदर्यके बहुत ऊंचे स्थानपर पहुंचा और असाधारण पूर्णताको प्राप्त हुआ था। जापानमें लोगोंने नृत्यकी परंपराको धार्मिक जीवनका अंग बनाकर रखा और, चूंकि सौंदर्य और कलाकी

ठीक-ठीक समझ जापानियोंकी नैसर्गिक संपत्ति है इसलिये उन्होंने इस कलाका किसी निम्नतर अर्थमें और मामूली उद्देश्यके लिये उपयोग करके इसकी अधोगति नहीं होने दी। भारतवर्षने भी धार्मिक नृत्योंके ज्ञानको प्राप्त किया और इस कलाकी उन्नति की। यह सच है कि हम लोगोंके इस कालमें प्राचीन यूनानी और अन्य नृत्योंको पुनरुज्जीवित करनेका प्रयत्न किया गया है; परंतु इन समस्त पुनरुज्जीवनोंमें धार्मिक भावका अभाव है और ये नृत्यकी अपेक्षा छंदोबद्ध व्यायाम जैसे ही अधिक दिखायी देते हैं।

आजकल रूसके नृत्य प्रसिद्ध हैं, किंतु ये प्राणमय जगत्‌की व्यंजना हैं, ये भयंकर रूपसे प्राणमय हैं। प्राणमय जगत्‌से आनेवाली सभी चीजोंकी तरह ये नृत्य भी बहुत आकर्षक या बहुत ही घृणास्पद हो सकते हैं, किंतु सदा ही ये अपने लिये ही होते हैं न कि किसी उच्चतर जीवनकी अभिव्यक्तिके लिये। रूसवालोंका तो रहस्यवाद (Mysticism) भी प्राणमय प्रकारका है। नृत्यकलाके विशेषज्ञकी हैसियतसे ये लोग अद्‌भुत होते हैं; किंतु विशेषता तो केवल यंत्र है। यदि तुम्हारा यंत्र बढ़िया है तो फिर यह अधिक अच्छी बात है, किंतु जबतक इसको भगवान्‌के अर्पण नहीं कर दिया जाता तबतक यह चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो, पर रहता है उच्चतमसे शून्य ही, और किसी दिव्य उद्देश्यके लिये यह उपयोगी नहीं हो सकता। कठिनाई यह है कि जो लोग कलाकार होते हैं उनमेंसे अधिकांश व्यक्तियोंका यह विश्वास होता है कि वे अपने ही पैरोंपर खड़े हैं और उन्हें भगवान्‌की ओर अभिमुख होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यह बड़े दुःखकी बात है, कारण भागवत अभिव्यक्तिमें कौशल उतना ही उपयोगी तत्त्व है जितनी कि और कोई भी वस्तु। कौशल तो भागवत रचनाका एक भाग ही है, पर उसे यह सीख लेना चाहिये कि महत्तर वस्तुओंके आगे वह अपनेको कैसे झुकाये रहे।

मनके बहुत ऊपर एक लोक है जिसे हम सामंजस्यका लोक कह सकते हैं और यदि तुम वहां पहुंच सको तो आजतक जितना भी

सामंजस्य किसी भी रूपमें पृथिवीपर प्रकट हुआ है उसका मूल तुमको वहां मिलेगा। उदाहरणके लिये बाककी गतों और विथोवनकी गतोंको ले लो, ये दो संगीतज्ञ इस जगत्‌में आगे पीछे आये और इन्होंने जो कुछ रचनाएं कीं उसके पीछे संगीतकी एक ही धारा, जिसमें कि कतिपय सर्वोत्तम स्वरोंका प्रयोग हुआ है, पायी जाती है। इन दोनों गुणियोंकी स्वरलिपि एक नहीं है, और इनकी गतें बाहरी कानोंको भी अलग-अलग सुन पड़ती हैं, किंतु सार रूपसे ये हैं एक ही। चेतनाके बिलकुल एक ही प्रकारके कंपनने, अर्थपूर्ण सामंजस्यकी एक ही लहरने इन दोनों कलाकारोंको स्पर्श किया था। इस कंपन और लहरको विथोवन बाककी अपेक्षा कुछ अधिक पकड़ सके थे, किंतु उनके अंदर ये उनके अपने मनकी कल्पनाओं और क्षेपकोंद्वारा अधिक मिश्रित हुए; बाक कुछ कम पकड़ सके, किंतु जो कुछ भी उनकी पकड़में आया उसको उन्होंने अधिक शुद्ध रखा। जिस कंपनको इन लोगोंने ग्रहण किया वह चेतनाके विजयात्मक निष्क्रमणका कंपन था, चेतना अचेतनाके गर्भको फाड़कर विजयात्मक रूपसे ऊपर उठ रही थी, जन्म ले रही थी।

योगके द्वारा यदि तुम इस लोकमें, जहांसे सभी कलाएं जन्म लेती हैं, पहुंच सको तो तुम सभी कलाओंके स्वामी बन सकते हो, यदि तुम वैसी इच्छा करो। पहले जो लोग वहां गये होंगे उन्होंने वहां जो कुछ दिव्य सौंदर्य और दिव्य आनंद है उसको वहीं रहकर भोगना संभवत: अधिक सुखकर, अधिक प्रिय अथवा एक आनंदमय चैनसे भरा हुआ पाया हो और उन्होंने वहांकी वस्तुको यहां प्रकट करने, इस पार्थिव भूमिकापर मूर्त्तिमान् करनेकी परवाह न की हो। परंतु यह उदासीनता ही समस्त सत्य नहीं है, न यह योगका ही वास्तविक सत्य है; यह तो संन्यासके अधिक नकारात्मक भावसे पैदा हुई हुई योगकी गतिशील स्वतंत्रताकी विकृति है, उसका ह्रास है। भगवान्‌का संकल्प प्रकट होनेका है न कि सर्वथा अक्रियता और पूर्ण निश्चल-नीरवतामें एकांतवास करनेका; यदि भागवत चेतना वास्तवमें कोई

ऐसी चीज होती जो अप्रकट रहनेवाले आनंदकी अक्रियता ही हो, तब तो किसी प्रकारकी कोई सृष्टि ही न हुई होती।

१५

"क्या समर्पण वही वस्तु नहीं है जो कि बलिदान है ?"

हमारे योगमें बलिदानके लिये कोई स्थान नहीं है। परंतु सब कुछ इसपर निर्भर करता है कि तुम बलिदान शब्दका क्या अर्थ लगाते हो। इसका जो विशुद्ध भाव है उसके अनुसार इस शब्दका अर्थ है उत्सर्गपूत दान, भगवान्के अर्पणद्वारा पवित्रीकरण। परंतु इसका जो प्रचलित अर्थ आजकल है उसके अनुसार बलिदान कुछ ऐसी वस्तु है जो विनाशके लिये प्रवृत्त है; यह अपने साथ एक अभावात्मक वातावरण लिये हुए है। इस प्रकारका बलिदान यज्ञ नहीं है, यह तो आत्मवंचन है, आत्म-वध है। तुम किस चीजका बलिदान करते हो? तुम अपनी संभावनाओंका, अपने व्यक्तित्वका अत्यंत जड़प्राकृतिक भूमिकासे लेकर अत्यंत आध्यात्मिक भूमिकाओंतककी संभावनाओं और सिद्धियोंका बलिदान करते हो। बलिदान तुम्हारी सत्ताको क्षीण करता है। भौतिक रूपसे, यदि तुम अपने जीवनका, अपने शरीरका बलिदान करते हो, तो इस कार्यद्वारा तुम पार्थिव भूमिकापरकी अपनी समस्त संभावनाओंको त्याग देते हो; तुम अपने पार्थिव जीवनकी सफलताओंसे हाथ धो लेते हो। इसी प्रकार नैतिक दृष्टिसे तुम अपने जीवनकी बलि दे सकते हो; और तब तुम अपने आंतरिक जीवनकी विशालता और स्वतंत्र चरितार्थताको त्याग देते हो। आत्म-बलिकी इस भावनाके अंदर सदा ही एक प्रकारके बलात्कारका, किसी तरहकी बनावटका, किसी अध्यारोपित आत्म-त्यागका भाव

रहता है। यह एक ऐसा आदर्श है जिसमें आत्माकी गभीरतर और विशालतर स्वतःस्फूर्तियोंके लिये कोई स्थान नहीं होता।

समर्पणसे हमारा आशय यह नहीं, बल्कि स्वतःस्फूर्त आत्म-दान है, भगवान्‌को, किसी महत्तर चेतनाको जिसके कि तुम एक अंग ही हो, दे देना है। समर्पण तुम्हारा ह्रास नहीं करेगा, बल्कि वह तुम्हारी वृद्धि करेगा, वह तुम्हारे व्यक्तित्वको घटायेगा नहीं, न उसे दुर्बल करेगा, न उसका नाश करेगा, बल्कि वह उसको मजबूत और सुरक्षित बनायेगा, उसको बृहत् करेगा। समर्पणका अर्थ है दानके पूर्ण आनंदके साथ मुक्त भावसे और पूर्ण रूपसे दे देना, इसके अंदर बलिदानका कोई भाव नहीं है। यदि तुममें जरासा भी ऐसा भाव होता है कि तुम कोई बलिदान कर रहे हो तो फिर वह समर्पण नहीं रहता। कारण इस बातका तो यह अर्थ हुआ कि तुम अपने-आपको बचाकर रखना चाहते हो अथवा यह कि तुम अपने दानको अनिच्छासे या कष्ट और संघर्षके साथ करनेकी चेष्टा कर रहे हो और तुम अपने दानसे प्रसन्न नहीं हो, शायद तुममें यह भाव भी न हो कि तुम दान कर रहे हो। जब कभी तुम किसी कामको अपने जीको भींचकर करते हो तभी तुम्हें यह निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिये कि तुम उस कामको गलत तरीकेपर कर रहे हो।

सच्चा समर्पण तुम्हें विशाल बनाता है, तुम्हारी क्षमताकी वृद्धि करता है, तुम्हारे गुण और मात्राको इतने अधिक परिमाणमें बढ़ाता है जितना कि तुम स्वयं नहीं बढ़ा सकते थे। और गुण और मात्राकी यह नयी वृद्धि पहले जो कुछ तुम प्राप्त कर सके होगे उससे भिन्न प्रकारकी होती है। अब तुम किसी दूसरे ही जगत्‌में, किसी विशालता-में प्रवेश कर जाते हो, जिसके अंदर तुम समर्पण किये बिना नहीं पहुंच सकते थे। इस बातको ऐसा ही समझो जैसे कि समुद्रमें गिरी हुई जलकी एक बूंद। यदि वहां भी वह बूंद अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखे तो वह जलकी एक छोटीसी बूंद ही बनी रहेगी, इससे अधिक और कुछ नहीं बन सकेगी, एक छोटीसी बूंद जिसे इर्द-गिर्द-

की अपार विशालता कुचल रही होगी, कारण उसने समर्पण नहीं किया है। परंतु समर्पण कर देनेपर वह उस समुद्रके साथ एक हो जाती है और समग्र समुद्रकी प्रकृति और शक्ति और विशालताका अंग बन जाती हैं।

इस समर्पणसंबंधी गतिमें किसी तरहकी भी संदिग्धता या अस्पष्टता नहीं होती, यह स्पष्ट होती है, बलवान् होती है और निश्चित होती है। यदि कोई छोटासा मानव-मन भागवत विराट् मनके सामने खड़ा हो और फिर भी अपने पृथकत्वसे चिपका रहे, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, एक छोटासा परिसीमित पदार्थ जो उच्चतर सद्वस्तुके स्वभावको नहीं जान सकता, उसके स्पर्शतकको नहीं पा सकता। ये दोनों एक दूसरेसे अलग बने रहते हैं और गुणरूपसे तथा मात्रारूपसे भी एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न रहते हैं। परंतु यदि वह छोटासा मानव-मन समर्पण करे तो वह भागवत विराट् मनमें निमग्न हो जायगा, गुण और मात्रामें भी उसके साथ एक हो जायगा। और इस कार्यमें यदि वह कुछ खोयेगा तो केवल अपनी सीमाओंको और अपनी विकृतियोंको और इससे पा लेगा अपनी विशालताको और प्रकाशमान विमलताको। उसके इस छोटेसे अस्तित्वका अपना स्वभाव बदल जायगा और जिस महत्तर सत्यको वह समर्पण करता है उसके स्वभावको वह धारण कर लेगा। परंतु यदि वह विराट् मनका प्रतिरोध करे, उसके साथ युद्ध करे, उसके विरुद्ध विप्लव करे, तो इसका तो यही परिणाम होगा कि इन दोनोंके बीच एक लड़ाई छिड़ जायगी और विराट् मनका मानव-मनपर दबाव पड़ेगा और इस संग्राममें जो निर्बल और छोटा है वह बलवान् और बड़ेकी शक्तिमत्ता और अमिततामें समा जाय, इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। यदि वह समर्पण नहीं करता तो फिर उसकी दूसरी एकमात्र गति यही है कि वह चूस लिया जाय और उसका अंत हो जाय।

जो मानव-प्राणी भागवत मनके संस्पर्शमें आयेगा और समर्पण

करेगा वह यह पायेगा कि उसका अपना मन उसके जो अपने अज्ञान और अंधकार हैं उनसे तुरंत शुद्ध होने लगा है और वह भागवत विराट् मनकी शक्ति और ज्ञानमें भाग लेने लगा है। और यदि वह सामने खड़ा रहे, किंतु पृथक् भावसे, बिना किसी संस्पर्शके, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, उस अपरिमेय विशालतामें एक जलकी बूंद। और यदि वह विप्लव करे तो वह अपने मनको गंवा देगा, उसकी शक्तियां क्षीण होने लगेंगी और लुप्त हो जायंगी।

यह बात जैसे मनके लिये सत्य है वैसे ही प्रकृतिके अन्य सब भागोंके लिये भी सत्य है। यों समझो कि यदि तुम किसी ऐसे मनुष्यके साथ लड़ो जो तुमसे बहुत अधिक तगड़ा पड़ता है, तो ऐसी लड़ाईका फल यही होगा कि तुम अपना सिर फूटा हुआ पाओगे। उस चीजसे तुम क्योंकर लड़ सकते हो जो तुमसे लाखों गुनी बलवान् है? प्रत्येक बार जब तुम विप्लव करोगे तब तुम्हें एक आघात पहुंचेगा और प्रत्येक आघात तुम्हारी शक्तिके एक भागको हर लेगा, यह वैसी ही बात है जैसी कि उस समय होती है जब कोई अपनेसे बहुत अधिक बलवान् प्रतिद्वंद्वीके साथ मुष्टियुद्धमें उतरता है, वह घूंसेपर घूंसा खाता है और हर एक घूंसा उसको अधिकाधिक कमजोर बनाता जाता है और अंतमें वह मैदानसे भगा दिया जाता है। ऐसा करनेके लिये किसी संकल्पशक्तिके हस्तक्षेपकी आवश्यकता नहीं होती, यह काम आप-से-आप हो जाता है। यदि तुम विशालताके विरुद्ध विप्लव करके उससे टकराओ तो सिवाय इसके और कोई परिणाम हो ही नहीं सकता।

जबतक तुम अपने ही कोनेमें पड़े रहते हो और साधारण जीवन बिताते रहते हो तबतक तुम्हें कोई नहीं छूता या कोई तुमपर चोट नहीं करता, किंतु जहां तुम भगवान्के संस्पर्शमें आये कि तुम्हारे लिये केवल दो ही मार्ग रह जाते हैं। या तो यह कि तुम समर्पण करो और उसमें अपने-आपको डुबा दो–तो तुम्हारा समर्पण तुम्हें विशाल करेगा और तुम्हें महिमान्वित करेगा; या फिर तुम विद्रोह करो–तो तुम्हारी सब संभावनाएं समाप्त हो जायंगी और तुम्हारी शक्तियां

क्षीण होकर नष्ट होने लगेंगी और तुममेंसे खिंचकर उस देवमें समा जायंगी जिसका कि तुम विरोध कर रहे हो।

समर्पणके विषयमें बहुतसे भ्रांत विचार फैले हुए हैं। अधिकांश लोग ऐसा समझते दीखते हैं कि समर्पण करनेका अर्थ है व्यक्तित्वका विसर्जन, किंतु यह एक गहरी भूल है, कारण व्यक्तिके अस्तित्वका प्रयोजन यह है कि वह भागवत चेतनाके एक पहलूकी अभिव्यक्ति करे और इस पहलूके स्वभावगत धर्मका प्रकाशन होना ही वह वस्तु है जिससे कि उसके व्यक्तित्वकी रचना होती है। इसलिये भगवान्की ओर उचित भाव रखनेसे व्यक्तित्व तो उसको क्षीण और विकृत करनेवाले निम्न-प्रकृतिके प्रभावोंसे मुक्त हो जाता है और वह एक ऐसा सच्चा व्यक्तित्व बन जाता है कि जो अधिक शक्तिसंपन्न होता है, अपने स्वरूपमें अधिक प्रतिष्ठित होता है और अधिक पूर्ण होता है। अब उसके व्यक्तित्वका सत्य और सामर्थ्य अपने अधिक विशिष्ट रूपमें चमकने लगता है, उसका चरित्र अधिक यथार्थ रूपमें प्रत्यक्ष होता है जैसा कि उस समय संभव नहीं होता जब कि वह सारे अज्ञान और अंधकारसे निम्नप्रकृतिकी सारी गंदगी और खोटसे मिला हुआ होता है। अब उसका व्यक्तित्व ऊंचाईमें और महिमामें बढ़ने लगता है। उसकी क्षमतामें वृद्धि हो जाती है तथा उसकी अधिकांश संभावनाएं सिद्ध होने लगती हैं। परंतु जिससे कि उसमें यह उत्कृष्टतादायक परिवर्तन हो सके इसके लिये व्यक्तित्वको पहले उस सब कुछका त्याग करना होगा जो सत्य स्वभावको विकृत, सीमित और तमोग्रस्त करनेके द्वारा उसके सच्चे व्यक्तित्वको बंधनमें डालता है, नीचेकी ओर गिराता तथा विरूप बनाता है; उसको अपने-आपमेंसे उन सबको निकाल फेंकना होगा जो साधारण मनुष्यकी अज्ञानमय निम्न-क्रियाओंसे तथा उसके अंधे-लंगड़े साधारण जीवनसे संबंध रखते हैं। और सबसे पहले उसे अपनी कामनाओंका त्याग करना होगा, कारण कामना निम्नप्रकृतिकी सबसे अधिक तमसाच्छन्न क्रिया है और यह मनुष्यको सबसे अधिक तमसाच्छन्न करती है। कामनाएं दुर्बलता और अज्ञानकी गतियोंसे

उत्पन्न होती हैं और ये तुममें जो कुछ दुर्बलता है तथा तुममें जो कुछ अज्ञान है उससे तुम्हें बांध रखती हैं। लोगोंकी धारणा ऐसी है कि कामनाएं उनके अंदर उत्पन्न होती हैं, वे ऐसा महसूस करते हैं कि ये या तो उनके अपने-आपमेंसे पैदा होती हैं या उनके अपने अंदरसे उठती हैं, किंतु यह एक भूल धारणा है। कामनाएं अंधकारग्रस्त निम्न-प्रकृतिके विशाल समुद्रकी लहरें हैं और ये एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्तिमें पहुंचती रहती हैं। मनुष्य कामनाको अपने-आपमेंसे पैदा नहीं करते, बल्कि ये लहरें उनपर चढ़ आया करती हैं और जो कोई भी इनके लिये खुला हुआ होता है या जिसने अपने बचावका प्रबंध नहीं किया होता वह इनकी पकड़में आ जाता है और इनके थपेड़ोंको खाता हुआ इधर-से-उधर डोलता रहता है। कामना मनुष्यको अभिभूत करके और उसपर अधिकार करके उसे विवेक करने लायक नहीं रहने देती और उसमें ऐसी धारणा जमा देती है कि इस (कामना) की अभिव्यक्ति करना भी उसके अपने स्वभावका एक अंग ही है। पर सच तो यह है कि मनुष्यके सत्य स्वभावके साथ इसका कुछ भी संबंध नहीं होता। ईर्षा, डाह, घृणा और हिंसा आदि सभी निम्नतर आवेगोंके संबंधमें यही समझना चाहिये। ये भी वे गतियां हैं जो तुम्हें अपने कब्जेमें कर लेती हैं, वे लहरे हैं जो तुमपर चढ़ आती और आक्रमण करती हैं; इनका सत्य चरित्र या सत्य स्वभावसे कोई संबंध नहीं है, बल्कि ये तो उन्हें विरूप बनातीं हैं। ये तुम्हारा वास्तविक या अविभाज्य अंग नहीं हैं, बल्कि निम्नप्रकृतिकी शक्तियां जिसमें विचरण करती हैं उस इर्द-गिर्दके अंधकारमय समुद्रमेंसे पैदा होती हैं। इन कामनाओंमें, इन आवेशोंमें व्यक्तित्वसंबंधी कुछ नहीं होता, इनमें तथा इनकी क्रियाओंमें ऐसी कोई चीज नहीं होती जो तुम्हारे लिये खास हो, ये तो इसी रूपमें सभी किसीके अंदर प्रकट होती हैं।

मनकी अज्ञानमय गतियां भी, व्यक्तित्वको ढक देनेवाली तथा उसकी वृद्धि और सार्थकताको क्षीण करनेवाली भ्रांतियां, संदेह और कठिनाइयां भी, इसी मूलमेंसे आती हैं। ये चलती फिरती लहरें हैं और जो कोई

भी इनकी पकड़में आनेके लिये और इनके अंध उपकरणकी तरह उप-युक्त होनेके लिये तैयार होता है, उसीको ये पकड़ लेती हैं। और यह होते हुए भी प्रत्येक मनुष्य अपने इस विश्वासको लिये फिरता है कि ये गतियां उसके अपने-आपका एक अंग और उसके अपने स्वतंत्र व्यक्तित्वकी एक बहुमूल्य उपज हैं। इतना ही नहीं, हमें ऐसे लोग भी मिलते हैं जो इनसे और अपनी अक्षमताओंसे यह कहकर चिपके रहते हैं कि ये ही तो उनकी स्वतंत्रताका चिह्न या सार हैं।

इस बातको यदि तुमने समझा होगा तो तुम इस बातके लिये तैयार होओगे कि आध्यात्मिकता और नैतिकतामें—जिनको एक दूसरेमें मिला देनेकी भूल लोग सदा ही किया करते हैं—जो अंतर है, जो महान् अंतर है उसको तुम समझ सको। आध्यात्मिक जीवन, अर्थात् यौगिक जीवनका उद्देश्य है भागवत चेतनामें परिवर्धित होना और फलतः तुममें जो कुछ भी है उसे पवित्र करना, तीव्र करना, महान् करना और पूर्ण करना। यह जीवन तुमको भगवान्‌की अभिव्यक्ति करनेवाली एक शक्ति बना देता है। यह प्रत्येक व्यवितत्वके चरित्रको पूर्ण गुणोत्कर्ष-तक ऊपर उठा देता है तथा उसको उसके अधिक-से-अधिक आत्म-प्रकाशनकी सीमातक पहुंचा देता है; कारण यह भगवान्‌की योजनाका एक अंग ही है।

परंतु नैतिकता एक मानसिक इमारतको बनाकर उसके सहारे आगे बढ़ती है और क्या अच्छा है और क्या नहीं इस विषयके कुछ थोड़ेसे विचारोंके आधारपर एक आदर्श नमूनेको गढ़कर तैयार करती है, जिसके सांचेमें जबरन् ढल जाना हर किसीका फर्ज होता है। इस नैतिक आदर्शका समग्र स्वरूप या उसके घटक अंग देशविशेष और कालविशेषके अनुसार जुदे-जुदे होते हैं। और तब भी यह आदर्श अपने संबंधमें ऐसी घोषणा करता है कि वह एक अनोखा नमूना है, वह अपनेमें बिल-कुल परिपूर्ण है; वह अपनेसे बाहरके किसी भी मत या सिद्धांतको स्वीकार नहीं करता, अपने अंदर भी किसी प्रकारके फेर-फारकी इजाजत नहीं देता। सब किसीको उस एक ही आदर्श नमूनेके

सांचेमें ढाल देना होगा, हर किसीको ठीक उसीके जैसा हूबहू पुतला बनना होगा। चूंकि नैतिकता इस तरहके कठोर और अवास्तविक स्वभावकी है इसी कारणसे वह अपने सिद्धांत और अपनी क्रियामें आध्यात्मिक जीवनके विपरीत पड़ती है।

यह ठीक है कि आध्यात्मिक जीवन सबके अंदर जो एक और सार वस्तु हैं उसका दर्शन कराता है, लेकिन साथ ही वह उसके अनंत वैचित्र्यका भी दर्शन कराता है; यह एकतामें विविधता और फिर उस विविधतामें पूर्णताको सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। परंतु नैतिकता एक ही कृत्रिम मानदंडको सामने रखती है जो बात जीवनके वैचित्र्य और आत्माकी स्वतंत्रताके विपरीत पड़ती है। बंधी हुई और मर्यादित एक मनोनिर्मित वस्तुकी सृष्टि करके इसकी यह मांग होती है कि हर कोई उसीके अनुसार चले। हर व्यवित एक ही प्रकारके गुणों और एक ही प्रकारके आदर्श स्वभावको प्राप्त करनेके लिये परिश्रम करे। नैतिकता न तो दिव्य है और न भगवान्की है; यह मनुष्यकी है और मानव है।

नैतिकताका जो आधारतत्त्व है वह है भले और बुरेके बीच एक स्थिर अंतर मानना, किंतु यह एक कपोलकल्पित विचार है। यह आपेक्षिक चीजोंको निरपेक्ष वस्तुओंके रूपमें आरोपित करनेकी चेष्टा करना है; कारण जिन बातोंको इसने निरपेक्ष मान लिया होता है वे ही भिन्न जलवायु और भिन्न समयोंमें, भिन्न युगों और भिन्न देशोंमें बदल जाती हैं, अच्छीकी जगह बुरी और बुरीकी जगह अच्छी हो जाती हैं। नैतिकताका विचार यहांतक जाता है कि वह यह बतलाता है कि कामनाएं भी अच्छी या बुरी होती हैं और वह तुमको अच्छीको स्वीकार करने और बुरीका त्याग करनेको कहता है। परंतु आध्यात्मिक जीवनकी तो यह मांग है कि तुम सभी कामनाओंका त्याग करो। उसका यह नियम है कि जो कोई भी गतियां तुम्हें भगवान्से दूर ले जाती हों उन्हें अपनेसे दूर करो; इसलिये नहीं कि वे अपने आपमें बुरी हैं,– कारण वे दूसरे व्यक्तिके लिये अथवा दूसरे क्षेत्रमें अच्छी हो सकती

हैं–बल्कि इसलिये कि उनका संबंध उन आवेगों या शक्तियोंसे है जो अबोध और अज्ञानमय होनेके कारण तुम्हारे भगवान्के पास पहुंचनेके मार्गमें बाधा पहुंचाती हैं। सभी कामनाएं चाहे अच्छी हों या बुरी, इसी व्याख्याके अंतर्गत आ जाती हैं, कारण कामना मात्रका उद्भव अबोध प्राणमय सत्ता और उसके अज्ञानसे होता है। दूसरी ओर, तुम्हें उन सब गतियोंको स्वीकार करना चाहिये जो तुम्हें भगवान्के संपर्कमें ले आनेवाली हैं। परंतु तुमको उन्हें इसलिये नहीं स्वीकार करना चाहिये कि वे अपने-आपमें अच्छी हैं, बल्कि इसलिये कि वे तुम्हें भगवान्के पास पहुंचाती हैं। अतएव जो कुछ तुमको भगवान्के पास ले जाता हो उस सबको स्वीकार करो और जो कुछ तुमको उनसे दूर ले जाता हो उस सबका त्याग करो, किंतु यह मत कहो कि यह अच्छा है और वह बुरा है अथवा अपने दृष्टिकोणको दूसरेपर थोपनेकी चेष्टा मत करो; क्योंकि जिस चीजको तुम बुरी ठहराते हो वही वह चीज हो सकती है जो तुम्हारे पड़ोसीके लिये, जो दिव्य जीवनको सिद्ध करनेका प्रयास नहीं कर रहा है, अच्छी हो।

आओ, हम लोग वस्तुओंको देखनेके नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि-कोणमें जो भेद हो जाता है उसको समझनेके लिये एक उदाहरण लें। साधारण सामाजिक विचारके अनुसार उदार और लोभी, इन दो प्रकारके मनुष्योंमें भेद किया जाता है। लोभी मनुष्यसे घृणा की जाती है, उसकी निंदा की जाती है, जब कि उदार मनुष्य निःस्वार्थी और समाजके लिये उपयोगी समझा जाता है और उसके इस गुणकी प्रशंसा की जाती है। परंतु आध्यात्मिक दृष्टि इन दोनोंको एक ही भूमिकापर देखती है; एककी उदारता और दूसरेका लोभ, ये दोनों ही किसी उच्चतर सत्यके, किसी महत्तर दैवी शक्तिके विकृत रूप हैं। एक ऐसी शक्ति है, ऐसी दैवी प्रवृत्ति है जो प्रकृतिकी समस्त भूमिकाओं-पर, अत्यंत जड़प्राकृतिक भूमिकासे लेकर अत्यंत आध्यात्मिक भूमिका-तकपर शक्तियोंको और वस्तुओंको तथा जो कुछ भी उसके पास है उस सबको फैलाती, बिखेरती और दोनों हाथोंसे बांटती रहती है।

उदार मनुष्य और उसकी उदारताके पीछे एक ऐसा विशिष्ट नमूनेका आत्मा होता है जो इस दैवी प्रवृत्तिको अभिव्यक्त करता है, वह मनुष्य बिखेरने और दूर-दूरतक बांटनेकी एक शक्ति होता है। इसी तरह एक दूसरे प्रकारकी शक्ति होती है, एक दूसरे प्रकारकी दैवी प्रवृत्ति होती है जो इकट्ठा करने और जमा करनेका काम करती है, वह शक्ति-यों और वस्तुओंको तथा अन्य जो कुछ भी स्वायत्त किया जा सकता है उस सबको, फिर चाहे वे निम्नतर भूमिकाओंके हों या उच्चतर भूमिका-ओंके—एकत्रित करती और जमा करती रहती है। अब जिस आदमी-को तुम लोभी कहकर दोषी ठहराते हो वह इस दैवी प्रवृत्तिका एक यंत्र बनाया गया था। दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, समग्र योजनामें दोनोंकी ही आवश्यकता है। जो प्रवृत्ति एकत्रित और जमा करती है उसकी आवश्यकता उस प्रवृत्तिसे जरा भी कम नहीं है जो फैलाती और बिखेरती रहती है। दोनों ही—यदि सचमुच भगवान्के अर्पण हो जायं—तो एक ही मात्रामें और समान मूल्यके साथ, उनका जो भागवत कर्म है उसके लिये यंत्ररूपसे उपयोगमें लायी जायंगी। परंतु जबतक उनका समर्पण नहीं हुआ होता तबतक ये दोनों ही समान रूपसे अज्ञानके आवेगोंद्वारा परिचालित होती रहती हैं। एक फेंकनेके लिये बाहरकी ओर ढकेली जाती है, दूसरी बचा रखनेके लिये अंदरकी ओर खींची जाती है; परंतु दोनोंका संचालन ऐसी शक्तियोंद्वारा होता है जो स्वयं अपनी चेतनासे अनभिज्ञ होती हैं, और इन दोनोंमेंसे किसी एकको पसंद करने जैसा कुछ भी नहीं है। योगके उच्चतर दृष्टि-बिंदुसे इस बहुत प्रशंसित उदार मनुष्यसे कोई यह कह सकता है कि 'उदारतारूपी तुम्हारे जो सब आवेग हैं उनका आत्माके हिसाबसे कुछ मूल्य नहीं है, कारण ये आवेग अहंकारसे और अज्ञानमय कामनासे आते हैं।' और दूसरी ओर, जिनपर कि लोभी होनेका दोष लगाया जाता है उन लोगोंमें कभी तुम्हें कोई ऐसा मनुष्य मिल जायगा जो अपनी प्रकृतिके सौंपे हुए इस काममें सर्वथा शांत भावसे और एकाग्रता-के साथ लगा हुआ, चीजोंको बटोरता और जमा करता रहता है, और

ऐसा मनुष्य जहां एक बार जागा कि वह भगवान्‌का एक बहुत ही सुन्दर यंत्र बन जायगा। परंतु साधारणतया लोभी मनुष्य, अपने विपक्षी-की ही तरह, अहंकार और कामनाके वश कर्म करता है; यह उस एक ही अज्ञानका दूसरा छोर है। दोनोंको ही शुद्ध परिवर्तित होना होगा तब कहीं वे अपने पीछे रहनेवाली किसी उच्चतर वस्तुके संपर्कमें आ सकेंगे और उस वस्तुको उस रूपमें व्यक्त कर सकेंगे जिस रूपमें उनकी प्रकृति उनसे चाहती है।

इसी प्रकार तुम दूसरे सभी तरहके लोगोंके स्वभावको ले सकते हो और उसका भागवत शक्तिकी योजनामें मूल अभिप्राय क्या है यह ढूंढ़ सकते हो। हरएक तुमको भगवान्‌द्वारा अभिप्रेत नमूनेका क्षीण स्वरूप अथवा विकृत चित्र मिलेगा, हरएकमें तुम्हें वे वस्तुएं मिलेंगी जो मन या प्राणद्वारा विकृत हो गयी हैं, पर जिनका आध्यात्मिक मूल्य कहीं बढ़कर है। एक बार जहां इस अशुद्ध गतिपर वश पा लिया, एक बार जहां उचित भाव धारण किया, एक बार जहां शुद्ध गतिका पता मिला कि सब लोग अपनी दिव्य संपत्तियोंको प्रकट करने लगते हैं। सभीका अस्तित्व उनके अंदर जो सत्य है उसके कारण न्याय्य ठहरता है, भूतमात्र समान रूपसे उपयोगी हो जाते, समान रूपसे आवश्यक हो जाते हैं और भिन्न-भिन्न होते हुए भी वे सभी भागवत अभिव्यक्तिके लिये अपरिहार्य यंत्र बन जाते हैं।

श्रीअरविन्द-आश्रम प्रेस, पांडीचेरी
22—47—1500

